बौद्ध आकर ग्रंथमाला
काशी विद्यापीठ, वाराणसी

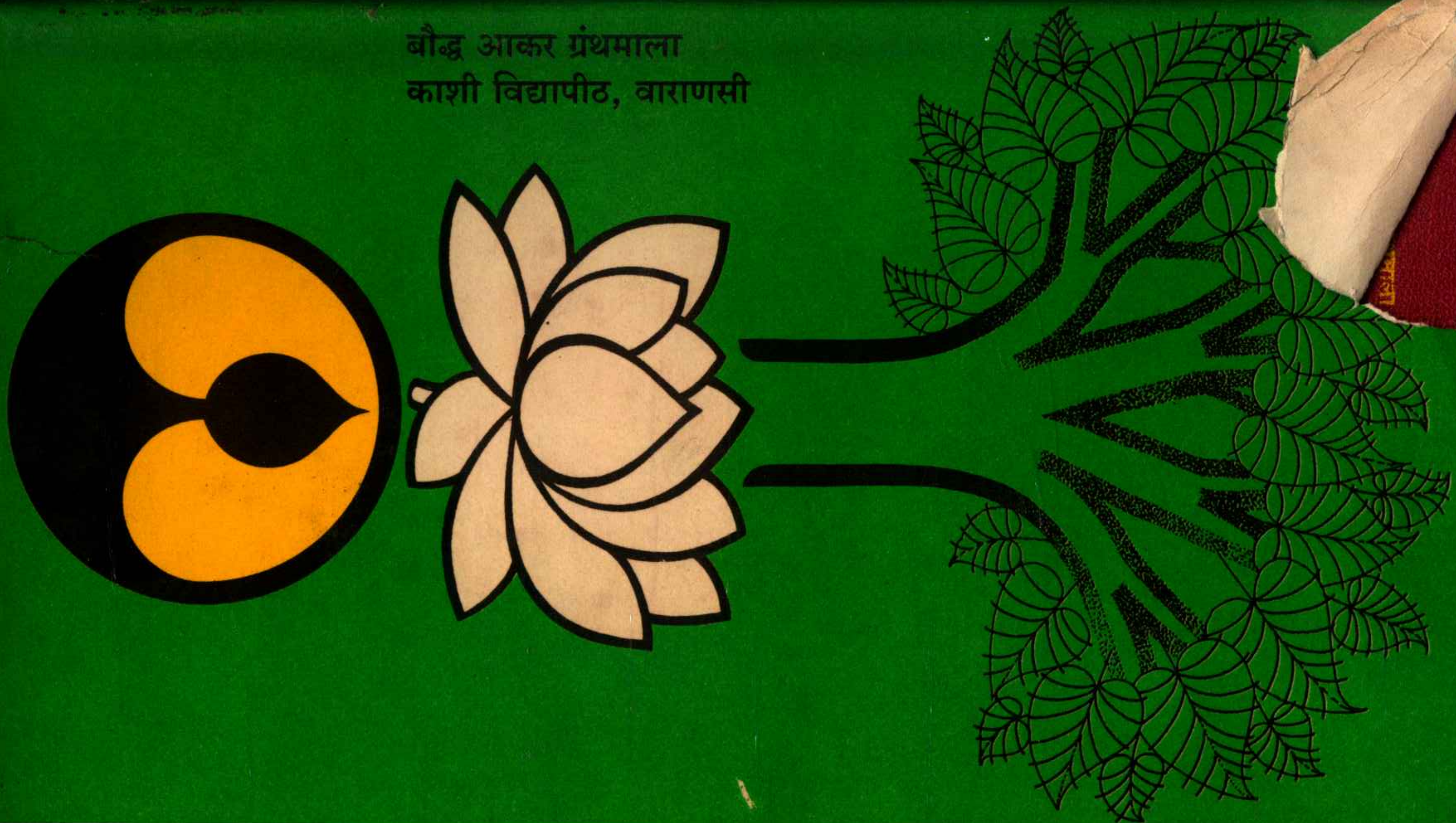

पुरोवाक्
प्रो० त्रिभुवन सिंह

सम्पादक
डा० परमानन्द सिंह

सद्धम्मोपायन

बौद्ध आकर ग्रन्थमाला पुष्प–३

सद्धम्मोपायनं

(मूल एवं हिन्दी अनुवाद)

पुरोवाक्
प्रो. त्रिभुवन सिंह
कुलपति काशी विद्यापीठ

सम्पादक
डॉ. परमानन्द सिंह

अनुवादक
डा. ब्रह्मदेव नारायण शर्मा

बौद्ध आकर ग्रन्थमाला
काशी विद्यापीठ, वाराणसी

बौद्ध आकर ग्रन्थमाला पुष्प-३

सद्धम्मोपायनं

(मूल एवं हिन्दी अनुवाद)

पुरोवाक्
प्रो. त्रिभुवन सिंह
कुलपति, काशी विद्यापीठ

सम्पादक
डॉ. परमानन्द सिंह

अनुवादक
डा. ब्रह्मदेव नारायण शर्मा

बौद्ध आकर ग्रन्थमाला
काशी विद्यापीठ, वाराणसी

प्रकाशक:
डॉ. परमानन्द सिंह
सदस्य-सचिव
बौद्ध आकर ग्रन्थ माला
काशी विद्यापीठ, वाराणसी

वितरक:
रत्ना पब्लिकेशन्स
बी २१/४२ए, कमच्छा
वाराणसी-१०

मूल्य रु. १००.००
वर्ष: १९९३
प्रथम संस्करण १००० प्रतियाँ

मुद्रक:
रत्ना प्रिंटिंग वर्क्स
बी २१/४२ ए, कमच्छा,
वाराणसी-२२१ ०१०

Bauddha Akar Granthamala-3

SADDHAMMOPĀYANA

(TEXT WITH HINDI TRANSLATION)

FOREWORD BY

PROF. TRIBHUVAN SINGH

VICE-CHANCELLOR

KASHI VIDYAPITH, VARANASI.

EDITED BY

DR. PARAMANAND SINGH

Translated by

DR. BRAHMADEO NARAYAN SHARMA

BAUDDHA AKAR GRANTHAMALA

KASHI VIDYAPITH, V A R A N A S I

Publisher:
Dr. Paramanand Singh
Member-Secretary
Bauddha Akar Granthamala
Kashi Vidyapith, Varanasi.

Sole Distributor
Ratna Publications
B 21/42 A, Kamachha
Varanasi-10

First Edition: 1993 Copies 1000
Price: Rs. 100.00

Printed by—
Ratna Printing Works
B 21/42 A, Kamachha,
Varanasi-221 010.

पुरोवाक्

इतिहास साक्षी है कि सामाजिक व्यवस्था को सुनिश्चित करने के लिए समय-समय पर हिंसक संघर्ष होता रहा है। यह संघर्ष अनेक आर्थिक एवं धार्मिक जैसी समस्याओं को लेकर सत्ता-संघर्ष का रूप लेता रहा है और परिणाम स्वरूप न जाने कितनी वार भारतभूमि रक्तरंजित हुई है। धर्म और राजनीति में परस्पर दूरी उत्तरोत्तर बढ़ती गई, जब कि आरंभ में दोनों को अलग करके देख पाना कठिन था। समाज के ये दो प्रमुख नियामक तत्त्व परस्पर वर्चस्व के लिए निरंतर संघर्ष करते रहे। यह संघर्ष कभी अप्रकट और कभी प्रकट रूप में इतिहास को रेखांकित करता रहा है। भारतवर्ष एक धर्मप्राण देश रहा है। अतः धार्मिक संघर्ष की अनुगूंज उसमें किसी न किसी रूप में बराबर बनी रही है। यह कहना अनुचित न होगा कि इस देश में धर्म के नाम पर जितना अधिक रक्त-पात हुआ, उतना रक्तपात साम्राज्य विस्तार के लिए लड़े गए युद्धों से भी नहीं हुआ। अनेक सैनिक संघर्ष तो धर्म को ही केन्द्र में रखकर हुए, जिन्हें ऐतिहासिक दस्तावेजों के अध्ययन एवं तत्कालीन काव्यकृतियों के सूक्ष्म निरीक्षण से जाना जा सकता है। रक्तपात की यह प्रवृत्ति युद्धों तक ही नहीं सीमित रही, बल्कि उसने पशुबलि और नरबलि के रूप में धार्मिक क्षेत्रों में भी प्रवेश किया। भारत की धरती ने समय-समय पर महापुरुषों को जन्म दिया है, जिन्होंने अपने सत्प्रयासों से तद्युगीन सामाजिक कुरीतियों को दूर करने का प्रयत्न किया। धार्मिक दृष्टि से अवतारों की कल्पना का मूल स्रोत यही है। महात्मा बुद्ध का उदय ऐतिहासिक श्रृंखला की अगली कड़ी के रूप में हुआ था, जिससे न केवल भारतवर्ष बल्कि अन्तर्राष्ट्रीय जगत की भी मानवीय चेतना प्रभावित हुई।

मानव की पीड़ा से आहत गौतम ने सामाजिक जीवन को करुणा से आप्लावित करने का जो संकल्प लिया, उससे न केवल धार्मिक चेतना प्रभावित हुई, बल्कि उससे राजनीतिक चेतना में भी बदलाव आया और आगे चलकर कुछ समय के लिए तो बौद्धधर्म-समर्थित राज्यव्यवस्था की भी स्थापना हुयी। महात्मा बुद्ध का अथिकांश समय उपदेशों में ही बीता और उनके अनुयायियों ने भी उसी परम्परा का अनुपालन किया, जिससे उपदेशपरक पालिसाहित्य का ही अधिकतर प्रचार-प्रसार हुआ। श्रेष्ठ काव्य-रचना को उस काल में पालिभाषा में प्रोत्साहन नहीं मिला। हृदयपरिवर्तन और स्थायी मूल्यों की स्थापना में श्रेष्ठ काव्य-कृतियाँ अपेक्षाकृत अधिक सहायक होती हैं। युगीन परिवर्तनों को अंगीभूत कर श्रेष्ठ काव्य

कृतियाँ धर्म को प्रासंगिकता प्रदान करती हैं। काव्य के माध्यम से यह प्रक्रिया जब तक लोकप्रिय रहती है, धर्म तब तक सामयिक सामाजिक चुनौतियों का सामना करता हुआ विकसित होता रहता है। भारतवर्ष में बौद्धधर्म के ह्रास के और जो भी कारण रहे हों, उनमें एक कारण यह अवश्य रहा कि उसे दृष्टि में रखकर लिखी गई श्रेष्ठ काव्य-कृतियों का अभाव दीखता है। श्रीलंका के एक महाकवि 'आनन्द' ने इसका अनुभव किया था और उन्होंने 'सद्धम्मोपायनं' नामक काव्य ग्रन्थ का निर्माण किया। इस काव्यकृति के माध्यम से तत्कालीन सामाजिक एवं धार्मिक परिस्थितियों का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। पालिभाषा में उपलब्ध काव्यों की श्रेष्ठता मात्र सत् रस पर निर्भर करती रही, जिससे अन्य मानवीय रसों का समावेश उनमें नहीं हो पाया। इस दृष्टि से महाकवि स्थविर आनन्द की उपलब्धियाँ महान हैं। उन्होंने विभिन्न रसों से संवलित अपनी काव्य-कृति के माध्यम से बौद्ध साहित्य की व्यापकता का अभिनव द्वार खोला, जिसके लिए वे सदैव स्मरण किए जायेंगे। आश्चर्य की बात है कि उनकी इस रचना का आज तक कोई हिन्दी अनुवाद सामने नहीं आया। इस अभाव की पूर्ति प्रस्तुत सम्पादन से हो रही है। अनुवादक डॉ. ब्रह्मदेव नारायण शर्मा एवं सम्पादक डॉ. परमानन्द सिंह निश्चित रूप से बधाई के पात्र हैं। मुझे पूर्ण विश्वास है कि यह प्रयास सार्थक प्रमाणित होगा और ग्रन्थ सहृदय पाठकों में लोकप्रिय होगा।

त्रिभुवन सिंह

प्रो. त्रिभुवन सिंह
कुलपति
एवं अध्यक्ष
बौद्ध आकर ग्रन्थमाला
काशी विद्यापीठ
वाराणसी

सम्पादकीय वक्तव्य

नमो तस्स भगवतो अरहतो सम्मासम्बुद्धस्स ।

बौद्ध आकर ग्रन्थमाला काशी विद्यापीठ के तृतीय पुष्प के रूप में 'सद्धम्मोपायनं' का मूलपाठ सहित हिन्दी अनुवाद प्रकाशित हो रहा है। इस ग्रन्थ के रचनाकार सिंहली स्थविर आनन्द हैं। इनको 'अभयगिरि चक्रवर्ती आनन्द' भी कहा जाता है।

'सद्धम्मोपायनं' दो शब्दों के योग से निर्मित है–सद्धम्म और उपायनं। संस्कृत का 'सद्धर्म' ही पालि में 'सद्धम्म' हो गया है। 'सद्धर्म' का संस्कृत में शोभन, उत्कृष्ट, समीचीन धर्म आदि के अर्थ में प्रयोग हुआ है। इसी प्रकार पालि साहित्य में 'सद्धम्म' का प्रयोग सर्वोत्तम धर्म, अनिन्द्य आचरण, सत्यधर्म, शोभन सिद्धान्त आदि अर्थों में हुआ है। 'उपायन' शब्द 'उप' उपसर्ग और 'अयन' शब्द के योग से बना है। 'उप' का अर्थ है-समीप जाना, समीप पहुँचना, भेंट आदि। 'अयन' मूलतः संस्कृत शब्द है, जिसके अर्थ हैं–गमन, गति, स्थान, मार्ग, व्यूह में प्रवेश आदि। पालि वाङ्मय में इसके अतिरिक्त 'अयन' शब्द एक अन्य अर्थ भी प्राप्त होता है–संसार से निर्वाण की ओर जाना। इस प्रकार 'सद्धम्मोपायनं निर्वाण के समीप ले जानेवाला शोभन धर्म का प्रतिपादक है अथवा निर्वाण की ओर अग्रसर सत्वों को नैतिक एवं आध्यात्मिक गुणों से युक्त धर्म का उपायन या भेंट है।

'सद्धम्मोपायनं' का रचना-काल

'सद्धम्मोपायनं' के रचयिता स्थविर आनन्द के समय के सम्बन्ध में विद्वानों में मतैक्य नहीं है। विभिन्न विद्वानों ने कविवर आनन्द का समय ११वीं शताब्दी से १४वीं शताब्दी के विभिन्न कालों को माना है, किन्तु सभी मतों पर विचार करने के पश्चात् यह निष्कर्ष निकलता है कि स्थविर आनन्द का समय १२वी शताब्दी का उत्तरार्ध माना जाना चाहिए। अतः 'सद्धम्मोपायनं' १२वीं शताब्दी की रचना प्रतीत होती है। कहा जाता है कि स्थविर आनन्द ने इस काव्य-ग्रन्थ की रचना अपने प्रिय सब्रह्मचारी बुद्धसोम को भेंट में देने और उन्हें भिक्षु-धर्म का परित्याग न करने का परामर्श देने के लिए की थी। परन्तु श्री विमलाचरण लाहा ने अपने ग्रन्थ हिस्ट्री आफ पालि लिटरेचर में ब्रह्मचारी बुद्धसोम को ही इस ग्रन्थ का रचयिता मान लिया है, जो ग्रन्थ की हस्तलिखित प्रति से असत्य सिद्ध हो जाता है। निर्विवाद रूप से 'सद्धम्मोपायनं' के रचयिता स्थविर आनन्द ही हैं।

'सद्धम्मोपायनं' का हस्तलेख-सम्पादन

मूल ग्रन्थ की रचना सिंहली में हुई थी। इसका सम्पादन बतुवन्तुदेव पंडित ने किया तथा इसका प्रकाशन श्रीलङ्का के शास्त्राधार प्रेस द्वारा १८७४ ई. में हुआ। पुनः १८८९ ई. में रिचार्ड मारिश ने 'सद्धम्मोपायनं' का रोमन लिपि में सम्पादन कर उसे 'पालि टेक्स सोसाइटी पत्रिका' में प्रकाशित कराया। इस कार्य में रिचार्ड मारिश ने ब्रिटिश म्यूजियम ओरियन्टल में सुरक्षित सिंहली लिपि के हस्तलेख का उपयोग किया। उन्होंने लिखा है, 'सद्धम्मोपायनं' के प्रस्तुत पाठ के लिए मैंने ब्रिटिश म्यूजियम ओरियण्टल में हस्तलेख संख्या २२४८ (सिंहली भाषा) का उपयोग किया है तथा मैंने सिंहली हस्तलेख और सिंहली शास्त्राधार प्रेस से १८७४ में प्रकाशित प्रति का मिलान किया तथा पाया कि हस्तलेख और प्रकाशित पाठ में कोई महत्वपूर्ण अन्तर नहीं है, सद्धम्मोपायनं का रोमन लिपि से सर्वप्रथम देवनागरी लिपि में डॉ. ब्रह्मदेव नारायण शर्मा ने लिप्यन्तरकरण किया, जिसका प्रकाशन १९८३ ई. में श्रमणविद्या संकाय पत्रिका में हुआ था। यह पत्रिका श्रमण-विद्या संकाय, स. सं. वि. वि. वाराणसी द्वारा प्रकाशित है। अद्यावधि 'सद्धम्मोपायनं' का मूल पाठ हिन्दी अनुवाद सहित प्रकाशित नहीं हुआ है। बौद्ध आकर ग्रन्थमाला, काशी विद्यापीठ इस महत्वपूर्ण कार्य का सम्पादन कर अपने को कृतार्थ मानती है।

ग्रन्थ-परिचय

'सद्धम्मोपायनं' ६२९ गाथाओं के काव्यात्मक वर्णन से समन्वित काव्य-ग्रन्थ है। बौद्ध धर्मावलम्बियों द्वारा काव्य-रचना को महत्त्व नहीं प्रदान किया जाता रहा है। कवि-कर्म को अनागत भय का विषय माना जाता रहा है। काव्य-रचना के सम्बन्ध में बौद्ध धर्म में जो धारणा थी, उसका वर्णन करते हुए डा. भरत सिंह ने 'पालि साहित्य का इतिहास' में लिखा है, 'कविकृत' रचनाओं (कविकता) और सामान्यतः काव्य (कावैय्या) को यहाँ भिक्षु-संघ के लिए एक अनागत-भय बताया गया। विचित्र अक्षरों वाली' (चित्तक्खरा) और 'विचित्र व्यंजनों वाली' (चित्त व्यञ्जना) रचनायें शून्यता के गहन सिद्धान्त की उपयुक्त वाहक नहीं बन सकतीं, ऐसी यहाँ मूल मान्यता है। जहाँ सत्य ही सबसे स्वादिष्ट रस हो, काव्य के नव रस क्या चलेंगे? जहाँ स्वादनीय ही कुछ न हो, वहाँ रस क्या करेंगे? काव्य, काव्यशास्त्र दोनों ही बौद्ध साधकों के अध्ययन के क्षेत्र के बाहर हैं। इसलिए काव्य-प्रतिभा को पालि-परम्परा में अधिक प्रोत्साहन नहीं मिल सका है।"

ऐसे परिवेश में रह कर स्थविर आनन्द ने अत्यन्त भावप्रवण काव्य की सृष्टि की और वे यशान्वित भी हुए। उन्होंने अपने ग्रन्थ में गाथाओं को मनोरम उपमाओं और रूपकों के माध्यम से अधिक ग्राह्य एवं प्रेषणीय बनाया। यहाँ

'सद्धम्मोपायनं' के वर्ण्य विषय पर एक दृष्टि डालना समीचीन होगा। इस दृष्टि से इसे दो भागों में विभक्त किया जा सकता है–(1) दुराचार का दुष्परिणाम और (2) सदाचार की प्रशंसा या उसका सुपरिणाम। इसके अतिरिक्त इस ग्रन्थ में बौद्धधर्म के प्रायः सभी मूल सिद्धान्तों का भी समावेश हुआ है। उन्नीस शीर्षकों में पाप के दुष्परिणाम, पुण्य-फल, दान की प्रशंसा, शील की प्रशंसा, अप्रमाद आदि का सुन्दर काव्यमय वर्णन हुआ है। पाप-कर्म के दुष्परिणाम को व्याख्यायित करते हुए कहा गया है कि इससे मनुष्य की तेजस्विता समाप्त हो जाती हैं और प्रेत-योनि में उत्पन्न होकर विपन्न जीवन व्यतीत करता है। पाप-कर्म करने वाला मनुष्य संसार के दुःखों से सन्तप्त रहता है। इसलिए पाप-कर्मों से मनुष्य मात्र को अलग रहना चाहिए।

इसके विपरीत पुर्ण्यकर्मा व्यक्ति सदैव प्रसन्न चित्त रहता है और वह श्रेयस को प्राप्त करता है। इस ग्रन्थ में शील को अत्यधिक महत्त्व प्रदान किया गया है। शील जीवन में भटके प्राणी को सन्मार्ग पर नियोजित करता है और प्राणी जीवन को महत् कार्यों में नियोजित कर महत्व को प्राप्त करता है एवं अपना कल्याण करता है। इसी तरह श्रद्धापूर्वक निष्काम भाव से सदाचार सम्पन्न, ज्ञानवान, गुणज्ञ व्यक्ति को दिया गया दान सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण मान्य है। कठिन श्रम से उपार्जित धन का निष्काम भाव से दान देना कठिन कार्य है। इसीलिए दान से दुर्गति का नाश और सद्गति की संप्राप्ति होती है। यहाँ तक कि आत्मश्लाघा से विरहित होकर करुणा और कृतज्ञता की भावना से संवलित होकर अपने पुण्य के दान का भी प्रतिपादन किया गया है। ऐसा करने वाला व्यक्ति ही दीर्घायु को प्राप्त कर आध्यात्मिक जगत में शिखरपुरुष का पद प्राप्त करता है।

'सद्धम्मोपायनं' काव्य की दृष्टि से भी अत्यन्त उत्कृष्ट है। स्थविर आनन्द ने विभिन्न गाथाओं को रमणीय उपमाओं एवं रूपकों में निबद्ध कर अधिक मनोहारी बनाया है। उत्कृष्ट उपमा का उदाहरण द्रष्टव्य है–

समथो विपस्सना चापि योगिनो हि मनोरथं।
पापेन्ति निब्बानपुरं रथन्धुरि युगं विय ॥ ४६८ ॥

उपर्युक्त गाथा में कवि ने शमथ और विपश्यना को क्रमशः रथ की धुरी और जुआ के रूप में उल्लिखित किया है और कहा है कि कोई व्यक्ति धुरी एवं जुआ विहीन रथ पर सवार हो कर अपने गन्तव्य स्थान को नहीं प्राप्त कर सकता। उसी प्रकार योगी समथ एवं विपश्यना भावना के बिना निर्वाण नगर में प्रवेश नहीं पा सकता। यहाँ कवि ने लौकिक उपादानों के माध्यम से गाथा में निहित सत्य को सुबोध एवं सहज ग्राह्य बना दिया है। यह उपमा-विधान ग्रन्थ में सर्वत्र उपलब्ध है।

इसी प्रकार गाथा सं. ५२९ में उपमा का अत्यन्त भव्य रूप द्रष्टव्य है–

किलेसमक्खिका चित्तं सन्ततं सवणग्गिना ।
नाल्लीयन्ति सन्तत्तं अयोपिण्डं व मक्खिका ॥ ५२९ ॥

अर्थात् जैसे सन्तप्त लौह पिण्ड पर मक्खी नहीं बैठती है, उसी प्रकार श्रवणाग्नि से सन्तप्त चित्त पर क्लेश रूपी मक्खी नहीं बैठ पाती है। यहाँ पर उपमा एवं रूपक का युगपद प्रयोग अत्यन्त भावात्मक एवं कलात्मक रूप में हुआ है तथा श्रवणाग्नि से सन्तप्त चित्त के वैशिष्ट्य को सहज बोधगम्य बनाया गया है।

'सद्धम्मोपायनं' में मनोरम उपमाओं के साथ ही अनेक स्थलों में सघन विचारों की अभिव्यक्ति के लिए सुष्ठु रूपकों का भी निबद्धन किया गया है। यह ग्रन्थ पालि भाषा में रचित वर्णनात्मक काव्यों में विशिष्ट स्थान रखता है। अपने गुण-धर्म के उदात्त रूप के कारण इस ग्रन्थ की महत्ता सर्वकाल में अक्षुण्ण रहेगी।

धन्यवाद-ज्ञापन

बौद्ध आकर ग्रन्थों का अनुवाद राष्ट्रभाषा हिन्दी में काशी विद्यापीठ के माध्यम से सम्पन्न हो, इसके लिए उ. प्र. सरकार ने विद्यापीठ में बौद्ध आकर ग्रन्थ माला निधि की स्थापना करके अपनी सहृदयता का जो परिचय दिया है, उसके लिए हम सरकार के प्रति अपनी कृतज्ञता निवेदित करते हैं।

इस असम्भव कार्य को सम्भव बनाने का अथक प्रयास हिन्दी जगत के पुरोधा प्रो. त्रिभुवन सिंह, कुलपति, काशी विद्यापीठ ने किया। वे इस निधि के अध्यक्ष भी हैं। उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करना अपने कर्तव्य की सार्थकता समझता हूँ। इस प्रसंग में तिब्बती उच्च शिक्षा संस्थान के निदेशक एवं बौद्ध वाङ्मय के विख्यात् विद्वान् प्रो. एस, रिनपोछे के प्रति भी मैं आभारी हूँ, जिनके कुशल निर्देशन में यह कार्य पूर्ण होने जा रहा है। इसके साथ ही प्रो. रामशंकर त्रिपाठी, पूर्व विभागाध्यक्ष, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी एवं डा. बँकिलाल मिश्र, संस्कृत विभाग, काशी विद्यापीठ के प्रति आभार व्यक्त करना मैं अपना दायित्व समझता हूँ। इन दोनों महानुभावों ने समय-समय पर अपने सुझावों से इस कार्य को पूर्ण कराने में योगदान किया है।

इस ग्रन्थ के अनुवादक डा. ब्रह्मदेव नारायण शर्मा का विशेष आभारी हूँ, जिनके अथक प्रयास एवं अध्यवसाय का यह प्रतिफल है। हमें आशा है कि इस अनुवाद से मूल ग्रन्थ के मर्म तक पहुँचने में सामान्य हिन्दी पाठक भी सहजता की अनुभूति करेंगे।

बौद्ध आकर ग्रन्थ माला, काशी विद्यापीठ की अनुवाद-योजना के अन्तर्गत "सद्धम्मोपायनम्" का मूल के साथ हिन्दी अनुवाद को देश के मूर्धन्य विद्वान यथोचित सम्मान देंगे और यह कृति हिन्दी साहित्य की प्रगति को एक नई दिशा प्रदान करेगी।

डा. विजयनारायण सिंह, उपाचार्य, हिन्दी विभाग, काशी विद्यापीठ का विशेष आभारी हूँ, जिनके बहुमूल्य सुझाव इस कार्य की पूर्णता के लिए मिलते रहे हैं और इसके साथ ही मैं प्रस्तुत पुस्तक की पाण्डुलिपि को सजाने-सवाँरने एवं टंकित करने का कार्य मेरे सहयोगी श्री श्रीशकुमार सिन्हा ने किया है, उनके प्रति हार्दिक आभार व्यक्त करता हूँ।

अन्त मे मैं उन समस्त बौद्ध विद्वानों एवं लेखकों के प्रति नतमस्तक हूँ, जिनके प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष सहयोग से यह कार्य पूर्ण हुआ। मैं अपने मित्र श्री विपुल शंकर पण्ड्या के प्रति आभार व्यक्त करता हूँ, जिनके अथक प्रयास से यह कार्य सम्पन्न हो सका। पुस्तक को सुन्दर, स्पष्ट एवं शुद्ध रूप में प्रकाशित करने में "रत्ना प्रिटिंग वर्क्स" के कर्मचारियों का सहयोग सराहनीय रहा है, उन्हीं के सहयोग से यह पुस्तक पाठकों के सम्मुख पहुँच पायी है।

परमानन्द

डॉ. परमानन्द सिंह
उपाचार्य
इतिहास विभाग एवं
सदस्य-सचिव
बौद्ध आकर ग्रन्थ माला
काशी विद्यापीठ
वाराणसी।

अनुवादक की ओर से

नत्वा तथागतं बुद्धं धम्मं संघं अनुत्तमं ।
अनुवादं करिस्सामि विरजं खेमं महग्घयं ॥
सद्धम्मोपायनं नाम यं बुद्धेन पकासितं ।
गन्थो/यं अतुलो सेट्ठो सब्बलोकाभिवड्ढनो ॥

'सद्धम्मोपायनं' का सम्पादन एवं प्रकाशन १९८३ ई. में 'श्रमणविद्या संकाय' द्वारा प्रकाशित 'संकाय पत्रिका'-१ में हुआ. था। मैने 'परिचय' में यह कहा था कि इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ का स्वतंत्र रूप से सुसम्पादित संस्करण प्रकाशित होना अपेक्षित है। साथ ही इसका प्रकाशन हिन्दी अनुवाद सहित होना लोकहित में होगा। 'सद्धम्मोपायनं' हिन्दी अनुवाद सहित बौद्ध आकर ग्रन्थमाला, काशी विद्यापीठ द्वारा प्रकाशित हो रहा है। आशा है, इससे सद्धर्म के प्रति रुचि बढ़ेगी और सद्धर्म के आचरण से सामाजिक जीवन में आमूल परिवर्तन संभव हो सकेगा।

'सद्धम्मोपायनं' एक अनुपम ग्रन्थ है, जो जीवन को सन्मार्ग की ओर प्रेरित करता है। कुशलकर्मों की महत्ता को प्रतिपादित करता है तथा निर्वाण की ओर अभिमुख करता है।

'सद्धम्मोपायनं' बौद्धधर्म के नैतिक एवं आध्यात्मिक गुणों का वर्णन करनेवाला एक अनुपम काव्य-ग्रन्थ है, जिसमें कवि ने गाथाओं के माध्यम से पाप के दुष्परिणाम तथा पुण्यकर्मों की प्रशंसा द्वारा पुण्यकर्मों को करने की प्रेरणा दी है।

प्रस्तुत ग्रन्थ का आज तक हिन्दी अनुवाद नहीं हो सका था, जिससे इसके अध्ययन में सामान्यजनों, छात्रों एवं जिज्ञासुओं को कठिनाइयों का सामना करना पड़ता था। मेरे अनेक मित्रों ने इसका हिन्दी अनुवाद करने के लिए मुझे अनेकशः प्रेरित किया। फलस्वरूप मैंने एक जिज्ञासु-छात्र की भाँति इसका अनुवाद प्रारम्भ किया। इस सन्दर्भ में पालि त्रिपिटक तथा अनुपिटक ग्रन्थों से सहायता ली गई है जिनका उल्लेख पादटिप्पण में कर दिया गया है। बीच-बीच में अनेक कठिनाइयाँ आईं, जिन्हें गुरुजनों एवं कल्याणमित्रों के सहयोग से समाप्त कर मैंने अनुवाद को पूरा किया है। मेरा प्रयत्न रहा है कि अनुवाद सरल, सुबोध, भाव प्रवण एवं सहज हो। इसमें कहाँ तक सफलता मिली है, इसे तो विज्ञ पाठक ही बता सकेंगे। ग्रन्थ में सहज प्रवेश हो सके इसलिए ग्रन्थ के प्रारम्भ में विषय-वस्तु में सद्धम्मोपायनं के सम्पूर्ण विषयों का सार प्रस्तुत किया गया हैं।

"सद्धम्मोपायन" के हिन्दी अनुवाद सहित प्रथम प्रकाशन के सुअवसर पर अपने गुरुजनों एवं कल्याणमित्रों के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करना मेरा परम कर्त्तव्य है। इसलिए सर्वप्रथम 'बौद्ध आकर ग्रन्थमाला, काशी विद्यापीठ' के संरक्षक कुलपति प्रो. त्रिभुवन सिंह के प्रति विनत हूँ, जिन्होंने इस ग्रन्थ के प्रकाशन के लिये यथेष्ट अनुदान देकर मूलभूत उपक्रम प्रदान किया है। बौद्ध आकर ग्रन्थमाला के सचिव डॉ. परमानन्द सिंह उपाचार्य, इतिहास विभाग, काशी विद्यापीठ, वाराणसी के प्रति आभार व्यक्त करता हूँ, जिनके अथक प्रयास तथा सहयोग से इसका प्रकाशन सम्भव हो सका है।

परमपूज्य गुरुवर डॉ. महेश तिवारी, आचार्य, बौद्ध अध्ययन विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, तथा डॉ. ब्रजमोहन पाण्डेय 'नलिन' (अध्यक्ष, पालि-प्राकृत विभाग, मगध विश्वविद्यालय,बोध गया) के प्रति आभार व्यक्त करता हूँ। इन विद्वानों ने उत्साहवर्धन कर मुझे अनुगृहीत किया है। प्रो. लक्ष्मी नारायण तिवारी, पूर्व अध्यक्ष पालि एवं थेरवाद विभाग, प्रो. गोकुलचन्द्र जैन, अध्यक्ष, श्रमणविद्या संकाय, सं. सं. वि. वि., वाराणसी, डॉ. फूलचन्द्र जैन प्रेमी, अध्यक्ष जैन दर्शन विभाग आदि विज्ञजनों के प्रति श्रद्धा से विनत हूँ, जिनके सत्परामर्श से यह कार्य सम्पन्न हो सका है। डॉ. कोमल चन्द्र जैन, (अध्यक्ष, पालि-बौद्धअध्ययन विभाग,) डॉ. हरिशंकर शुक्ल, डॉ. प्रद्युम्न दूबे काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के प्रति आभार व्यक्त करता हूँ, जिन्होंने अपने अमूल्य सुझाव से मुझे उपकृत किया है। सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालयं के उन सभी विद्वज्जनों के प्रति आभार व्यक्त करता हूँ, जिन्होंने सदैव प्रेरणा देकर मुझे उत्साहित किया है।

१३.६.९३

ब्रह्मदेव नारायण शर्मा
उपाचार्य एवं अध्यक्ष
पालि एवं थेरवाद विभाग
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय,
वाराणसी

अनुशंसा

डॉ. ब्रह्मदेव नारायण शर्मा द्वारा सम्पादित तथा देव नागरी लिपि में आलोचनात्मक रीति से हिन्दी में अनूदित **सद्धम्मोपायन** को मैंने सुरुचि के साथ पढ़ा। यह पुस्तक बौद्ध धर्म-दर्शन के मूलभूत विचार-बिन्दुओं को सरल ढंग से उपस्थित करती है। कुशल तथा अकुशल धर्मों का सम्यक् उपस्थापन तथा विवेचन कर अप्रमाद के अमृत भाव पर यह सहज प्रकाश डालती है। इसका हिन्दी अनुवाद सरल तथा सुबोध है। इससे इसके विषय को अवगाहत करने में सुगमता आ गई है। आशा है जिज्ञासु इसका अध्ययन कर पालि भाषा तथा बौद्ध दर्शन में प्रवेश पा सकेंगे।

डॉ. शर्मा दुर्लभ पालि ग्रन्थों के प्रकाशन में रत हैं। आशा है उनकी लेखनी से पालि के ग्रन्थ नागरी में उपलब्ध हो सकेंगे। मैं उनके सुदीर्घ, स्वस्थ तथा उत्तरोत्तर विकासशील जीवन की कामना करता हूँ

२९.३.९३

डॉ. महेश तिवारी
आचार्य
बौद्ध अध्ययन विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय,
दिल्ली

अनुशंसा

'सद्धम्मोपायनं' पालिभाषा में उपनिबद्ध एक काव्य-ग्रन्थ है जिसका आज तक हिन्दी भाषा में अनुवाद नहीं हो सका था। मेरे विद्वान् एवं प्रज्ञामित्र डॉ. ब्रह्मदेव नारायण शर्मा ने अवहित होकर मनोयोग पूर्वक शब्दपरिपाक को स्पष्ट रूप से जानकर अनुवाद किया है, जिसमें प्रतिपद उनके बुद्धिवैशारद्य का स्वरूप प्रोद्भासित हो उठा है। क्लिष्ट शब्दों में निगूढ भावों की अभिव्यक्ति देने के लिये डॉ. शर्मा ने गहन प्रयत्न किया है और परिपत्तिधर्म को दृष्टिपथ में रखकर उसकी समीचीनता को उपन्यस्त किया है। आशा है महल्लक्ष्य से अनुप्राणित यह ग्रन्थ विद्वानों, अनुसंधित्सुओं, सद्धर्मनावेषकों एवं पाठकों के लिये उपयोगी एवं उत्प्रेरक सिद्ध होगा। अनुवाद की भाषा सहज, सुबोध भाव प्रवण, एवं सहृदय संवेद्य तथा हृद्य है।

अनुवाद में भाषा की सहजता तथा भाव की स्पष्टता का जो मणिकाञ्चन सद्भाव परिलक्षित होता है, उसके लिये डॉ. शर्मा शतशः धन्यवाद के पात्र हैं।

ब्रह्मदेवकतो सुद्धो अनुवादो च उत्तमो ।
पमासेति अयं लोके अब्भोकासो ब चन्दिमा ॥

१०.६.९३

ब्रजमोहन पाण्डेय नलिन
आचार्य एवं अध्यक्ष
स्नातकोत्तर पालि-प्राकृत विभाग
मगध विश्वविद्यालय
बोधगया

संकेत सूची

१.	अं. नि. भा. ३	अंगुत्तर निकाय भाग-३ नवनालन्दा महाविहार, नालन्दा (प्रकाशन)
२.	बोधि.	बोधिचरियावतार
३.	रा.	रामचरित मानस
४.	स. पा.	समन्तपासादिका (नवनालन्दा प्रकाशन)
५.	सद्ध.	सद्धम्मोपायनं
६.	विभा.	विभावनी टीका
७.	अट्ठ.	अट्ठसालिनी
८.	विसु.	विसुद्धिमग्गो
९.	जा.द्वि. भा.	जातक, द्वितीय भाग
१०.	म. नि. तृ भा.	मज्झिम निकाय, तृतीय भाग
११.	अं. नि.प्र. भा.	अंगुत्तरनिकाय, प्रथम भाग
१२.	अ. को. वि.	अभिधर्मकोश, विभाषा
१३.	अ. का, अ न. दे.	अभिधर्मकोश, आचार्य नरेन्द्र देव
१४.	विभ.	विभङ्ग
१५.	विभ. अ.	विभङ्ग अट्ठकथा (सम्मोहविनोदनी)
१६.	प. दी.	परमत्थदीपनी
१७.	पटि. म.	पटिसम्भिदामग्ग
१८.	दी. नि. अ.	दीघनिकाय अट्ठकथा (सुमंगलविलासिनी)
१९.	वि. म.	विसुद्धिमग्गो
२०.	अ. ध. सं.	अभिधम्मत्थसंगहो
२१.	अ. नि., ४, ५,	अंगुत्तरनिकाय, (चतुक्क-पञ्चकनिपात)
२२.	अभि. समु.	अभिधर्मसमुच्चय
२३.	खु. पा.	खुद्दकपाठ
२४.	ध. प.	धम्मपद
२५.	सं. नि.	संयुत्तनिकाय
२६.	सा. दी. टी. १, २	सारत्थदीपनी टीका-भाग-१,२
२७.	सु. नि.	सुत्तनिपात
२८.	वि. मू. टी.	विभङ्गमूलटीका

२९. ध. अ.	धम्मपद अट्ठकथा
३०. पे. व.	पेतवत्थु
३१. वि. व.	विमानवत्थु
३२. ध. सं.	धम्मसङ्गणी
३३. सं. नि. द्वि. भा.	संयुत्तनिकाय भा. २
३४. म. नि. तृ. भा.	मज्झिमनिकाय भा. ३
३५. दी. नि. तृ. भा.	दीघनिकाय, तृतीय भाग
३६. अभि. दी.	अभिधर्म दीप
३७. मिलि.	मिलिन्दपञ्हो

विषयवस्तु

असमय (अक्षण) को प्रकाशित करनेवाली गाथा

मनुष्यजीवन में क्षण का अत्यन्त महत्त्व है। क्योंकि क्षण-क्षण जीवन में परिवर्तन होता रहता है। मनुष्य क्षण को यदि ठीक तरह से समझ लेता है और उसको सही एवं कुशल कार्यों में लगाता है तो वह देवत्व की कोटि तक पहुँच जाता है। और यदि क्षण को बिना समझे और पहचाने व्यर्थ व्यतीत करता है या अकुशल की ओर लगा देता है तो नरक और दुःख की अवाप्ति कर लेता है। इसलिए क्षण के महत्त्व को "अक्खणदीपन-गाथा" के माध्यम से प्रतिपादित किया गया है। अंगुत्तरनिकाय के अट्ठकनिपात में 'अक्खण' अर्थात् असमय को विस्तार से बतलाया गया है। कुशल कर्मों के सम्पादन में अयोग्य क्षण को 'अक्खण' या 'असमय' कहा गया है।[1]

भगवान् बुद्ध ने भिक्षुओं को सम्बोधित करते हुए कहा है कि भिक्षुओ अज्ञानी पृथक् जन लोक को क्षणिक कृत्य बतलाते हैं। लेकिन वे नहीं जानते कि "योग्यक्षण" कौन सा होता है तथा अयोग्य-क्षण कौन सा होता है। भिक्षुओं, श्रेष्ठ जीवन व्यतीत करने के लिए ये आठ अयोग्य क्षण हैं, असमय हैं। वे हैं–लोक में अर्हत्, सम्यक्-सम्बुद्ध, विद्याचरण-युक्त, सुगत, लोकों के जाननेवाले, अनुपम, पुरुषों का दमन करनेवाले सारथी, देवताओं तथा मनुष्यों के शास्ता, बुद्ध, भगवान् तथागत पैदा होते हैं और उपशमन कारक, निर्वाण की ओर ले जानेवाले, सम्बोधि प्राप्त करानेवाले, सुगत द्वारा उपदिष्ट धर्म की देशना भी होती है। लेकिन यह आदमी निरय (नरक) में उत्पन्न होता है। भिक्षुओं, श्रेष्ठ जीवन व्यतीत करने के लिये यह पहला अयोग्य क्षण है, असमय है।

पुनः भगवान बुद्ध का प्रादुर्भाव तो होता है, साथ ही उपशमनकारक, निर्वाण की ओर ले जाने वाले, सम्बोधि प्राप्त करानेवाले धर्म की देशना भी होती है लेकिन यह तिर्यक् योनि में उत्पन्न होता है, अतः कुशल कर्मों का सम्पादन नहीं कर सकता, इसलिए श्रेष्ठ जीवन व्यतीत करने का यह दूसरा अयोग्य क्षण है। और इसी को लक्ष्य सद्धम्मोपायनं में कहा गया है कि:–

---

1. १. अं. नि. भा. ३ पृ. ३२८, २९। आठ अक्षण हैं–नरकोपयत्ति, तिर्यगुपपत्ति, यमलोकोपपत्ति, प्रत्यंतजनपदोत्पत्ति, दीर्घायुषदेवोत्पत्ति, इन्द्रियविकलता, मिथ्यादृष्टि तया चित्तोत्पादविरागता (बो. च. अ. १, ८ टीका)।

'सद्धम्मसञ्ञारहिते सदा उब्बिग्गजीविते ।
तिरच्छानभवे सन्तो कथं पुञ्ञं करिस्सति ॥

इसी तरह भगवान् बुद्ध का लोक में प्रादुर्भाव होता है साथ ही उनका उपदेश भी होता है पर यह आदमी प्रेतयोनि में पैदा होता है। श्रेष्ठ जीवन व्यतीत करने के लिए यह तीसरा अयोग्य क्षण है, असमय है। इसीलिए कहा गया है कि–

'गत्वान पेत्तिविसयं सन्तापपरिसोसितो ।
खुप्पिपासापरिस्सन्तो कथं पुञ्ञं करिस्सति ॥

चौथा अक्षण अरूपी एवं असञ्ञभूमि में (दीर्घजीवी देवयोनि में जन्म लेना) जन्म ग्रहण करना है। जहाँ जन्म लेने पर वह श्रवणेन्द्रिय से रहित होता है अतः धर्मोपदेश होने पर भी श्रवणोपाय से रहित होने के कारण वह पुण्योपार्जन करने में अक्षम होता है; इसीलिए भगवान् ने इसे श्रेष्ठ जीवन व्यतीत करने के लिए अयोग्य क्षण बतलाया है।

आरुप्पासञ्ञालोकेपि सवणोपायवज्जितो ।
सद्धम्मसवणाहीनो कथं पुञ्ञं करिस्सति ॥

पाँचवा असमय प्रत्यन्त-जनपद (सीमाप्रान्त) में पैदा होना है। जहाँ भिक्षुओं, उपासक-उपासिकाओं का अभाव रहता है। सज्जनों के अभाव में श्रेष्ठ जीवन व्यतीत करना कठिन होता है इसीलिए ऐसे क्षण को श्रेष्ठ जीवन व्यतीत करने के लिए 'अक्षण' कहा गया है।

'अच्चन्ताधम्मबहुले मुनिन्दसुतवज्जिते ।
पच्चन्तविसये जातो कथं पुञ्ञं करिस्सति ॥'

पुनः तथागत लोक में पैदा होते हैं और उनकी देशना भी होती है,और आदमी मध्यमण्डल में जन्म भी ग्रहण करता है। किन्तु वह आदमी मिथ्यादृष्टि से युक्त होता है, वह सोचता है–दान निरर्थक है, यज्ञ करना निरर्थक है, होम करना निरर्थक है, अच्छे-बुरे कर्मों का फल नहीं होता है, न यह लोक है, न परलोक है, न माता है न पिता है, न बिना माता-पिता के उत्पन्न होने वाले प्राणी होते हैं; लोक में ऐसे श्रमण-ब्राह्मण नहीं हैं जो सम्यक् प्रकार का जीवन व्यतीत करते हैं और लोक तथा परलोक को स्वयं जानकर, स्वयं साक्षात्कार कर देशना करते हैं; यह श्रेष्ठ जीवन व्यतीत करने के लिए छठा अयोग्य क्षण है। असमय है। अतः कहा गया है कि–

'पक्खन्तो पापिकं दिट्ठिं सब्बथा अनिवत्तियं ।
संसार-खाणुभूतो हि कथं पुञ्ञं करिस्सति' ॥

पुनः भगवान् तथागत लोक में उत्पन्न होते हैं; उनकी देशना भी होती है पर वह आदमी मध्यमण्डल में पैदा होता है, लेकिन वह दुष्प्रज्ञ, जड़, वज्रमूर्ख, सुभाषित-दुर्भाषित का अर्थ समझने में भी असमर्थ होता है। यह उत्तम जीवन व्यतीत करने के लिए सातवाँ अयोग्य क्षण है, असमय है।

"जळो मूगादिको वापि विपाकावरणे ठितो ।
गहणोपायरहितो कथं पुञ्ञं करिस्सति" ॥

पुनः लोक में तथागत का प्रादुर्भाव नहीं होता जिससे उपशम की ओर ले जाने वाले धर्मों की देशना नहीं होती। वह आदमी मध्यमण्डल में जन्म तो ग्रहण करता है साथ ही प्रज्ञावान समझदार, सुभाषित-दुर्भाषित का अर्थ जानने में समर्थ भी होता है पर बुद्धोपदिष्ट धर्मदेशना के अभाव में कुशल जीवन व्यतीत करने में अक्षम हो जाता है, यह आठवाँ अक्षण या असमय है।

भगवान् ने बतलाया है कि भिक्षुओं, श्रेष्ठ जीवन व्यतीत करने के लिए ये आठ अयोग्य क्षण हैं, असमय हैं।

उपर्युक्त अष्ट असमय (अयोग्यक्षणों) को निर्देशित करने का तात्पर्य है कि क्षण तथा अक्षण को अथवा सुयोग-कुयोग को समझकर सुअवसर का सदुपयोग किया जाय। अष्ट अयोग्य क्षण का जैसा निर्देश किया गया है उसका अर्थ इतना ही है कि प्रज्ञावान मनुष्य द्वारा सदुपदेश दिये जाने पर भी यदि सुअवसर का लाभ नहीं होता तो तदनुकूल आचरण के अभाव में मनुष्य कुशल कर्मों के पुण्यफल की अवाप्ति से वंचित रह जाता है। जिन आठ कुअवसरों का निर्देश ऊपर किया गया है वे उन कुयोगों अथवा अयोग्य क्षणों को बतलाते हैं जिन अयोग्य क्षणों के चलते मनुष्य परम लक्ष्य तक नहीं पहुँच सकता। ये कुयोग प्रायः अकुशलकर्मों के फलस्वरूप ही प्राप्त होते हैं। जैसे—असुर योनि, प्रेतयोनि, तिर्यक्-योनि, आरुप्य-असंज्ञीभव, सीमाप्रान्त में निवास, इन्द्रियविकलता तथा विपरीत बुद्धि से युक्त होना। साथ ही प्रज्ञावान मनुष्य का अभाव भी कुशल कर्मों के सम्पादन में बाधक होते हैं। अतः इन अयोग्य क्षणों को 'असमय' कहा गया है।

यद्यपि इनका निर्देश आज से २५०० वर्ष पहले भगवान् बुद्ध ने भिक्षुओं को किया था तथापि आज भी इसकी प्रासंगिकता कुछ कम नहीं हैं। जीवन के हर क्षण और हर स्तर पर कुयोग का दुष्परिणाम तथा सुयोग का शुभ परिणाम अवश्य लक्षित होता है। इसे नगरीय जीवन और ग्रामीण जीवन के अन्तर से भी आँका जा सकता है। नगरीय जीवन उन्नत एवं समृद्ध दीखता है तथा ग्रामीण जीवन अभाव, अज्ञान तथा रोगयुक्त दीखता है। जब सामान्य जीवन में कुयोग एवं सुयोग का इतना अन्तर स्पष्ट प्रतिभाषित होता है तो जीवन के परम लक्ष्य तथा

परमसत्य के बारे में तो इन क्षणों के वैषम्य के कारण दुष्परिणाम तथा सुपरिणाम को समझना अत्यन्त आसान हो जाता है।

श्रेष्ठ जीवन व्यतीत करने के लिए क्षण (समय) के महत्त्व को समझना आवश्यक है। भगवान् बुद्ध का प्रादुर्भाव और उनके द्वारा उपशमन-कारक, निर्वाण की ओर ले जानें वाले, ज्ञान प्राप्त कराने वाले धर्म की देशना होती है। उस समय आदमी मध्य-मण्डल में जन्म ग्रहण करता है। वह प्रज्ञावान होता है, सुभाषित-दुर्भाषित का अर्थ जानने में समर्थ होता है। श्रेष्ठजीवन व्यतीत करने के लिए यह एक सुअवसर है, योग्य क्षण है, योग्य समय है। मनुष्य जन्म प्राप्त कर, धर्म के सम्यक् उपदिष्ट रहने पर भी जो इस सुअवसर का सही उपयोग नहीं करते, वे क्षण से चूक जातेहैं।[1] उनका जीना व्यर्थ होता है। जिन्हें संसार में बुद्ध के सम्मुख उत्पन्न होने का सुदुर्लभ अवसर मिला है, सद्धर्म की देशना सुनने को मिली है; ऐसे प्राणियों के लिए आत्महित की दृष्टि से प्रयत्न करना उपयोगी है। उसे यह चिन्तन करना चाहिए कि हम सद्धर्म को कैसे जान लें तथा जीवन में सद्धर्म के अनुकूल कैसे आचरण करें जिससे हाथ से यह सुअवसर न चला जाय। अवसर चूक जाने से अपार हानि होती है। जिस प्रकार व्यापारी का अर्थ नष्ट हो गया हो जिससे वह दीन-हीन और विकल हो उसी प्रकार वह आदमी बहुत दिनों तक अनुताप को प्राप्त होता है। जो अविद्या (अज्ञानता) से ग्रस्त हैं, जिसने सद्धर्म का पालन नहीं किया है, वह बहुत दिनों तक इस संसार में जन्म लेता रहेगा, मरता रहेगा।[2] अतः जन्म-मरण परम्परा को नष्ट करने के लिए श्रेष्ठ क्षण को प्राप्त कर सद्धर्म के अनुसार आचरण करना आवश्यक है। जिन्होंने ऐसे उपयोगी क्षण को प्राप्त कर उसका सही सदुपयोग किया है वे इस लोक में अनुपम श्रेष्ठ जीवन व्यतीत कर सकने वाले क्षण को सही मायने में समझा है तथा उस सुअवसर से लाभ उठाय है। जिन्होंने युक्त क्षण (सुअवसर) को समझकर उसका सदुपयोग किया है वे विषय-वासनाओं के प्रति संयत, स्मृतिमान्, निर्मलभाव से रहते हुए

---

1. तयिदं सम्मुखीभूतं, यं लोकस्मिं सुदुल्लभं,
   मनुस्सपटिलाभो च, सद्धम्मस्स च देसना ।
   अलं वायमितुं तत्थ, अत्तकामेन जन्तुना,
   कथं विजञ्ञा सद्धम्मं, खणो वे मा उपच्चगा ।
   खणातीता हि सोचन्ति, निरयम्हि समप्पिता ।
   इध चे नं विरोधेति, सद्धम्मस्स नियामतं ॥ अं. नि. भा. ३ पृ. ३३०
2. वाणिजोव अतीतत्थो चिरत्तं अनुतपिस्सति ।
   अविज्जानिवुतो पोसो, सद्धम्मं अपराधिकौ,
   जातिमरणसंसारं, चिरं पच्चनुभोस्सति ॥ अ. नि. भा. ३ पृ. ३३०

सभी अनुशयों तथा आश्रवों को छोड़कर मारबन्धनों से मुक्त हो संसार-सागर को पार हो सकते हैं।[1]

इस प्रकार 'अक्खणदीपन-गाथा' के माध्यम से क्षण के महत्त्व को प्रतिपादित किया गया है। अमूल्य क्षण को प्राप्त कर सर्वदा कुशलकार्यों का सम्पादन करना चाहिए क्योंकि ऐसे सुअवसर अत्यन्त दुर्लभ होते हैं। इसीलिए आचार्य शान्तिदेव ने क्षण के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए कहा है कि–"सुअवसर का पाना दुर्लभ है। यह सभी पुरुषार्थों का साधक है। यदि मानव शरीर को पाकर भी मैंने अपना हित नहीं सोचा तो पुनः इस सुअवसर को कहाँ से प्राप्त किया जा सकता है।[2] अतः इन आठ अक्षणों से विनिर्मुक्त दुर्लभ क्षण को प्राप्त कर पुण्य कर्मों के सम्पादन में प्रमादरहित होकर लग जाना चाहिए।

अन्यत्र भी क्षण के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए कहा गया है कि–"आयु के एक क्षण को भी करोड़ों स्वर्ण मुद्राओं से प्राप्त नहीं किया जा सकता, ऐसे अमूल्य क्षण को व्यर्थ विता देने से बढ़कर और कौन सी हानि हो सकती है:–

अयुषःक्षणमेकोऽपि न लभ्य स्वर्णकोटिकैः
स चेन्निरर्थकं नीतः का नु हानिस्ततोऽधिका

अतः क्षण के महत्त्व को समझकर इसका सदुपयोग कुशलकार्यों के अधिगम के लिए करना चाहिए। समय के सदुपयोग से सभी पुरुषार्थ को प्राप्त किया जा सकता है, जीवन में चतुरस्त्र विकास हो सकता है तथा सर्वत्र सफलता मिल सकती है।

२. दस-अकुशलपथ-आदीनवगाथा

दस अकुशलकर्मपथ के दुर्गुणों की गाथा।

प्रस्तुत प्रकरण में अकुशल कर्मों के दुर्गुणों का चित्रण किया गया है। जो कुशल नहीं है उसे अकुशल कहते हैं। "न कुसला ति अकुसला"[3]। सदोष एवं दुःखविपाकलक्षण से युक्त धर्मों को अकुशल कहा जाता है।[4] अकुशल हेतुओं से

1. ये च लद्धा मनुस्सत्तं, सद्धम्मे सुप्पवेदिते।
अकंसु सत्थुवचनं, करिस्सन्ति करोन्ति वा
खणं पच्चविदुं लोके, ब्रह्मचरियं अनुत्तरं॥ अ. नि. भा. ३ पृ. ३३०
2. क्षणसम्पदियं सुदुर्लभा प्रतिलब्धा पुरुषार्थसाधनी।
यदि नात्र विचिन्त्यते हितं पुनरप्येष समागमः कुतः॥ बो. च. पृ. 9
3. अ. सा. पृ. १२५।
4. "सावज्जदुक्खविपाकलक्खणा अकुसला"। अ. सा. पृ. १२५॥

युक्त होने के कारण यह 'अकुशल' है।[1] लोभ, द्वेष तथा मोह ये तीन अकुशल हेतु हैं। इन हेतुओं से युक्त हो जब चित्त उत्पन्न होता है तो उसे अकुशल चित्त कहा जाता है। अकुशल चित्त के द्वारा जो कर्म होते हैं उन्हें अकुशल कर्म कहते हैं। तथा जिन द्वारों तथा पथों से ये कर्म सम्पादित किए जाते हैं उन्हें अकुशलकर्मपथ कहा जाता है। 'अकुशलकर्म' लोभ-मोह, द्वेष-मोह तथा केवल 'मोह' नामक अकुशल मूलों से युक्त अकुशल चेतना का नाम है। जब चित्त में लोभ उत्पन्न होता है तो मोह भी उसके साथ ही रहता है। मोह का अर्थ अज्ञानता है। अज्ञानता के कारण सदसद् विवेक के अभाव में लोभ प्रबल हो लोभाकार प्रवृत्त होता है। द्वेष का अर्थ ईर्ष्या, डाह, जलन, परविनाश चिन्ता आदि होता है। इसके होने से क्रोध की उत्पत्ति होती है जिसके कारण प्रतिहिंसा की भावना बनती है। द्वेष के साथ 'मोह होने के कारण ही ऐसा होता है। 'मोह' या अज्ञानता के कारण विवेक का अभाव रहता है। क्योंकि 'मोह' वस्तु के यथार्थ–स्वरूप का आच्छादन करता है। इन्हीं तीन अकुशल मूलों से युक्त चेतना 'पापचेतना' है । इस पाप-चेतना से युक्त कर्म को अकुशलकर्म तथा जिन द्वारों से ये कर्म घटित होते हैं उन्हें कर्मद्वार या कर्मपथ कहा जाता है। इस प्रकार बारह प्रकार के चित्त को अकुशल चित्त, इनसे होने वाले दस प्रकार के कर्म को अकुशल कर्म, तथा इनका सम्पादन जिन तीन द्वारों से होता है उन्हें अकुशल कर्म द्वार या अकुशलकर्म पथ कहा जाता है।

तीन द्वारों से (काय, वची, मनोद्वार) अकुशलचेतना उत्पन्न होने पर दस अकुशलकर्मों की उत्पत्ति होती है। हिंसा, स्तेय और व्यभिचार ये तीन कायिक अकुशल कर्म हैं, असत्यभाषण, पैशून्य, परूषवचन तथा अर्थहीन वचन ये चार वाचसिक अकुशल कर्म हैं। लोभ, द्वेष, मोह या मिथ्यादृष्टि, मानसिक अकुशल कर्म हैं। इन दस अकुशल कर्मों को करनेवाला दुःशील, दुश्चरित्र एवं विमूढ़ कहा जाता है। लोभ, मोह के कारण चोरी', द्वेष, मोह के कारण हिंसा तथा मोह के कारण व्यभिचार आदि कायिक अकुशल कर्म होते हैं। पुनः लोभ, मोह के कारण असत्य भाषण, द्वेष मोह के कारण परुषवचन तथा पैशुन्य (चुगली) तथा शुद्ध मोह के कारण सम्प्रलाप ये चार वाचसिक अकुशल कर्म होते हैं। इसी तरह लोभ के कारण दंभ, काम के कारण व्यभिचार, द्वेष के कारण क्रोध और क्रोध के कारण परुष वचन होते हैं। ये दस अकुशल कर्म सन्मार्ग से विरत करते हैं। इसलिए अकुशल चेतना से मुक्त होने का प्रयत्न करना चाहिए। सत्त्व, बधकचित्त, बध का उपक्रम

1. "तीणि अकुसलमूलानि–लोभो, दोसो, मोहो, तदेकट्ठा च किलेसा" तंसम्पयुत्तो वेदनाक्खन्धो, सञ्ञाक्खन्धो, सङ्खारक्खन्धो, विञ्ञाणक्खन्धो, तंसमुट्ठानं कायकम्मं, वचीकम्मं, मनोकम्मं–इमे धम्मा अकुसला। ध. सं. पृ. २२९ ।

और उससे जीवन का नाश ये चार हिंसा कर्म के साथी है। इसे अट्ठकथा में जीवित प्राणी, प्राणातिपात, प्राणातिपाति तथा हिंसा के लिए उपक्रम या प्रयोग कहा गया है। हिंसा के छः प्रयोग बताये गये हैं। वस्तु, काल, आकाश, आयुध, इरियापथ तथा क्रिया विशेष । अपने द्वारा की गई हिंसा को 'साहत्थिको' कहा गया है । दूसरों के आदेश से या आज्ञा से की गई हिंसा को 'आणत्तिको' कहते हैं। दूर स्थित हो वाण, शक्ति, पाषाण आदि से स्वयं हिंसा कर दी जाय तो इसे 'निस्सग्गिय' कहा जाता है। विष भैषज्य के द्वारा की गई हिंसा को 'थावरो', मन्त्रविद्या के प्रयोग में लाना विद्यामय प्रयोग हैं तथा ऋद्धिबल से हिंसा करना इद्धिमय प्रयोग है। प्राणिहिंसा के लिए छः अङ्गों से युक्त 'आणत्ति' होती है। वे हैं– वस्तु, काल, आकाश, आयुध, इरियापथ तथा क्रियाविशेष। समन्तपासादिका में विस्तार से इस पर विचार किया गया है।[1]'

दूसरे की वस्तु, यह दूसरे की वस्तु है इसकी चेतना, (त्याग) दानचित्त का अभाव, स्थानभ्रष्टता तथा प्रयोग या उपक्रम ये पाँच चौर्य कर्म में सहभागी हैं।

परस्त्री, यह दूसरे की स्त्री है इसकी चेतना, अतिक्रमण करने वाला चित्त और व्यभिचार; चार अंगों से युक्त परदार संगति को 'कामेसुमिथ्याचार' या कामव्यभिचार कहा गया है। ये तीन कर्म कायद्वार से प्रवृत्त होते हैं इसलिए इन्हें कायिक अकुशल कर्म कहा जाता है।

मृषावचन, परुषवचन, पैशून्य तथा सम्प्रलाप ये चार वचीद्वार से प्रवृत्त होते हैं इसलिए इन्हें 'वची अकुशल कर्म', कहते हैं, तथा अभिज्झा (लोभ) व्यापाद (द्वेष) तथा मिथ्यादृष्टि (मोह) ये तीन मनोद्वार से प्रवृत्त होते हैं इसलिए इन्हें मानसिक अकुशलकर्म कहा गया है। इन अकुशल कर्मों का विस्तार से वर्णन 'सद्धम्मोपायनं' में किया गया है।

इन अकुशल कर्मों को करने से जो दुष्परिणाम होते हैं उन पर प्रकाश डालते हुए कहा गया है कि इन कर्मों का फल अनिष्ट है। इन कर्मों के करने से अपाय आदि योनियों में जाना पड़ता है साथ ही मनुष्यलोक में भी ये अकुशलकर्म अत्यन्त अनिष्टकारक हैं। हिंसा करनेवाला मनुष्य अल्पायु, रोगी, प्रियजन वियोगी, तथा उद्विग्नमनवाला होता है। चौर्य कर्म करने वाला दलिद्र, दीन, इच्छा के विरुद्ध दुःखद स्थिति से युक्त तथा पराश्रित होता है। परदारगमन करने वाला मनुष्य अनेक शत्रुओं से युक्त होता है तथा दूसरे जन्म में नपुंसक अथवा स्त्री योनि को प्राप्त करने वाला होता है।

---

1. द्र. समन्तपासादिका-पृ. ४३६ ॥

असत्य बोलनेवाला मनुष्य बची दुःख से खिन्न रहता है साथ ही वह अविश्वसनीय तथा दुर्गन्धमुखवाला होता है। चुगली करने वाला सन्मिन्न तथा प्रिय से शून्य होता है। कठोर वचन बोलनेवाला विद्वेष भाव से पूर्ण, कटुभाषी, द्वेषी आदि होता है। सम्प्रलाप से युक्त मनुष्य के अङ्ग प्रत्यङ्गों का सम्बन्ध ठीक नहीं होता, तथा अनादर का पात्र होता है।

जो व्यक्ति व्यापाद (द्वेष) से युक्त होता है वह अप्रिय, कुरूप, विषम रोगयुक्त होता है। मिथ्यादृष्टि से युक्त मनुष्य अत्यन्तनिकृष्ट, भोगी, मन्द, जड़, दुष्ट, रोगी तथा मिथ्याधारणाओं से युक्त होता है। मद्य पीने वाला मनुष्य उन्मत्त, विक्षिप्त, नीचवृत्ति से युक्त, महाजड़ तथा उपेक्षित होता है। कृपण व्यक्ति इस जन्म में दलिद्र होता है, साथ ही निन्दनीय, रोगी, इर्ष्यालु, अभिमानी तथा प्रभावहीन होता है। कठोर बोलने वाला उपेक्षित कुल में उत्पन्न होता है, मूढ़, अपमानित, तथा श्वानवृत्ति से जीवनयापन करता है।

इन कर्मों के फलस्वरूप अपायभूमि में जन्म होता है। अपायभूमि भयावह है क्योंकि इस भूमि में प्राणियों को अपार दुःख सहना पड़ता है। अपाय भूमि का दुःख भयानक एवं अकथनीय है। लोभजन्य अकुशल कर्मों के फलस्वरूप प्रेतलोक में उत्पन्न होता है, मोहजन्य कर्मों के फलस्वरूप तिर्यक् योनि में तथा द्वेषजन्य कर्मों के फलस्वरूप नरकलोक में उत्पन्न होता है।

अतः अकुशल कर्मों को छोड़कर कुशल कर्मों का ही सम्पादन करना चाहिए।

प्रेत दुःख-वर्णन-गाथा

अकुशल-कर्मों के फलस्वरूप अपायभूमि में उत्पत्ति होती है। अपायभूमि में निरय, (नरक) तिर्यक्, प्रेतलोक और असुरकाय संगृहीत हैं। मनुष्यसुख, देवसुख एवं निर्वाणसुख नामक तीन प्रकार की सम्पत्तियों की उत्पत्ति के कारणभूत कुशलकर्मों को 'अय' कहा जाता है, उस अय नामक कुशल कर्मों से विरहित स्थान को 'अपाय' कहते हैं। पुण्यसम्मत 'अय' का अपगत हो जाना 'अपाय' है।[1] परमत्थदीपनी में कहा गया है कि 'अयो ति वड्ढि, अत्थतो पन सुखञ्च सुखहेतु सुखपच्चया च वेदितब्बा, येमुय्येन ततो अपगता एत्थ निब्बत्ताति सत्ता ति अपायो, सो येव भूमीति अपाय भूमि[2]। अर्थात् अय का अर्थ वृद्धि होता है। सुख, सुखहेतु

---

1. तिविधसम्पत्तियो अयन्ति गच्छन्ति पवत्तन्ति एतेना ति 'अयो' अयतो अपगतो अपायो। अ. ध-सं. पृ. ४६६ ।
2. प. दी., पृ. १६२, द्र. विसु. म. पृ. २९७-२९८, विभ. पृ. १२३ अट्ठ सा. पृ. ३०९।

सुख प्रत्यय से विरहित हो जाना ही अपाय है। इसी तरह 'अपाय भूमि' पिटकों अनुपिटकों टीकाओं में बहुलतया वर्णित है।

प्रस्तुत प्रसंग में प्रेतयोनि में उत्पन्न सत्त्व के दुःखों का वर्णन किया गया है। पूर्व में कहा गया था कि लोभजन्य अकुशल कर्मों के फलस्वरूप प्रेतयोनि में जन्म लेना पड़ता है। प्रेतों को किन-किन दुःखों का भोग करना पड़ता है। उनका विस्तार से वर्णन 'प्रेत दुःखवर्णन' गाथा में किया गया है। कहा गया है कि–"जो अज्ञानी, इर्ष्यालु, तथा मात्सर्ययुक्त हैं, वे प्रेतलोक में उत्पन्न होते हैं। वहाँ अर्जित दुःखों को भोगता है, और पुनः दुःख को ही अर्जित करता है। अपने कर्मों के फलस्वरूप जल से विरहित, आहार के लिए इधर-उधर घूमकर प्रयास करने के कारण 'प्रेत' कहा जाता है।" जो सुखसमूह से अत्यन्त दूर प्रदेश में पहुँच जाते हैं, उन्हें 'पेत' (प्रेत) कहा जाता है। प्रायः 'प्रेत' शब्द मनुष्यभूमि से च्युत होकर जाने वालों के लिए ही प्रयुक्त होता है; परन्तु यहाँ सुख से विरहित होनेवालों के अर्थ में प्रयुक्त है। उन प्रेतों के समूह को 'पेत्ति' कहते हैं। प्रेतों के समूह को रहने के स्थान को 'पेत्तिविसय' कहा जाता है।[1] इस लोक में रहनेवाले प्रेत भूख, प्यास से परिश्रान्त होता है। आकार उसका भयानक होता है। उसका सर बड़ा, अस्थिकंकाल-मात्र दीखता है। उसकी रीढ़ की हड्डी सटी हुई तथा उदर की त्वचा से ढकी होती है। त्वचा, अस्थि तथा नख अस्त-व्यस्त रहते हैं, गाल धंसी हुई, लम्बे, अस्तव्यस्त बाल, काला मुखवाला तथा अत्यन्त विद्रूप होता है। अस्थिकंकाल मात्र वे प्रेत दुर्भाग्य से ग्रस्त होते हैं। उनका उत्कर्ष का कोई अवसर नहीं होता, वरन् पूर्व-सुखों को याद कर जीते हैं। उनकी स्थिति अत्यन्त दयनीय होती है।

प्रेतलोक में होनेवाले दुःखों का अन्त नहीं है उनके श्रान्त जीवन का तथा उनकी जीविका सम्बन्धी कठिनाईयों का वर्णन करना कठिन है। भूख, प्यास से युक्त प्रेतों के दुःखीजीवन तथा इच्छाविनाश से उत्पन्न दुःख नरक में भी नहीं छूटता। अतः लोभ के कारण उत्पन्न प्रेतलोक के दुःख को जानकर प्रज्ञावान् मनुष्य लोभशत्रु को विनष्ट कर नरक-दुःखों से मुक्त होते हैं।

तिर्यक् योनि के दुःख को वर्णन करने वाली गाथा

प्राणी मोहजन्य कर्मों के फलस्वरूप तिर्यक् योनि में उत्पन्न होता है। धर्म चेतना से रहित प्राणी पापकर्मों के कारण दुर्गम, महादुःख, तीव्र आसक्ति तथा

---

1. पकट्ठेन सुखतो इता गता ति पेता। निज्झामतण्हिकादिभेदानं पेतानं विसयो ति पेत्तिविसयो-विभा. पृ. १२३ ॥
द्र.-प. दी. पृ. १६३, विभ. अ. पृ. ४५९ ।
प्रेतों के लिए द्र.-सं. नि. द्वि. भा. (लक्खणसंयुत्त) पृ. २११-२१८॥

भयावह तिर्यक्-योनि में उत्पन्न होता है। तिरछे गमन करते हैं, तिरछे चिन्तन करते हैं, तिरछे सोते हैं, धर्म में तिरछी गति रखते हैं इसीलिए इन्हें "तिरच्छान" (तिर्यक्) कहा जाता है। यथा–

तिरियतो एव चिन्तेन्ति गच्छन्ति च सयन्ति च।
तिरो गतिच्छा धम्मेसु तिरच्छाना ततो मता[1] ॥

तिर्यक् योनि में उत्पन्न होनेवालों की संख्या कितनी है यह कहना कठिन है क्योंकि इसमें पशु-पक्षी, कीड़े, फतिंगे आदि अनेक प्राणी वास करते हैं। इन प्राणियों को कौन-कौन से दुःख भोगने पड़ते हैं इसका वर्णन इस प्रकरण में विस्तार से किया गया है। कहा गया है कि "सड़ी मछलियों में, जंख्म में, नावदान में, कुष्ट में, अशुद्ध और दुर्गन्धयुक्त स्थान में तथा मलमूत्र में असंख्य प्राणी उत्पन्न होते हैं, भ्रमण करते हैं, सोते हैं, रहते हैं तथा उसी में मर जाते हैं। ये सब अत्यन्त गन्दे एवं घृणित स्थान में रहते हैं। इस योनि में स्थल तथा जलचर दोनों प्रकार के प्राणी होते हैं। इसलिए आपस में ये एक दूसरे से भयभीत रहते हैं।

बाल, रोऐं, नख, मांस, सिंग धारी जीवों के कष्टों को वर्णन करना कठिन है। चर्मोत्पाटनजन्य दुःख से छटपटाते और तड़पते प्राणियों के दुःख के बारे में कहना कठिन हैं। गर्म पानी में पकाये जाते हैं, आँखों को बींधकर तथा उल्टे शिर लटकाकर मारने के लिए ले जाये जाते है। बराबर जल में रहनेवाले जीव निर्दय मनुष्यों के द्वारा जल से पकड़े जाते हैं तथा मार दिये जाते हैं। कुछ जन्तु विशेष (बैल, हाथी, घोड़े) डंडे, अंकुश एवं चावुक से पीटे जाते है। अकुशलकर्मों के फलस्वरूप दुर्बल-प्राणी कठोर रस्सों में बाँध दिये जाते हैं जिससे वे स्वच्छन्द एवं स्वतंत्र नहीं रहते। कोई-कोई रथ में, हल में तथा गाड़ी में जोते जाते हैं। गर्मी, भूख, प्यास से त्रस्त होने पर भी भारयुक्त वस्तु को लादते हैं, यदि वे उसको ले जाने में असमर्थ होते हैं तो पीटे जाते हैं। नाथ पकड़कर खींचते हैं, बाल उधेड़ते हैं, बींधते हैं तथा डंडे आदि से मारते हैं। ऐसे प्राणियों पर कोई दया नहीं करता। इस प्रकार तिर्यक् योनिं में अत्यन्त कष्टों को झेलना पड़ता है। जहाँ, भय एवं अविश्वास है, लज्जा का अभाव है, जहाँ न धर्म है न स्मृति न कर्त्तव्य-कर्म का ज्ञान है, उसके बारे में कुछ कहना कठिन है। इस तिर्यक् योनि से निकलना कठिन है। क्योंकि यहाँ पुण्यकर्मों को करने का सुअवसर प्राप्त नहीं है। यहाँ प्राणी नित्य उद्वेगयुक्त, महादुःखी, एक दूसरे को भक्षणकरने वाले, अशुभ, अकल्याणकर मोहजाल से जकड़े हैं। सभी अनर्थों के समूह, सभी क्लेशों से युक्त तथा संसार में संसरण करते

---

1. स. पा. गा. सं. १३०। द्र. विभ. पृ. १२३, प. दी. १६२, म. नि. तृ. भा. पृ. २३९, विभ. अ. पृ. ४५९।"

रहनेवाले को तिर्यक् योनि की संज्ञा दी गई है। अतः अकुशल कर्मों को त्याग कर कुशल कर्मों का सम्पादन करना चाहिए जिससे इस दुर्गति को प्राप्त न हों।

पाप के दुष्परिणाम की गाथा

प्रस्तुत प्रकरण में अकुशलकर्मों के दुष्परिणाम को विस्तार से बतलाया गया है। ऊपर कहा गया है कि द्वेषजन्य कर्मों के फलस्वरूप प्राणी नरकलोक में उत्पन्न होता है। अतः इस प्रकरण में विभिन्न नरकों तथा उसमें रहनेवाले प्राणियों के दुःख का वर्णन किया गया है इसीलिए इसका नाम "पापादीनव गाथा" है। कहा गया है कि पापाकर्मों की अधिकता होने पर भी जो निर्भय होकर विचरण करते हैं, वे निश्चय ही महाभयानक नरक में उत्पन्न होते हैं।

"अय" का अर्थ सुख होता है। उस "अय" सुख से रहित भूमि को निरय कहते हैं।[1] जो कुशलकर्मों को बढ़ाता है अथवा जिसका आस्वादन किया जा सकता है, वह धर्म "अय" है, जिस भूमि में "अय" (सुख) नहीं हैं उसे "निरय" कहते हैं। इसीलिए "सद्धम्मोपायनं" में कहा गया है कि–

सुखं अयो ति संखातं, यहिं सो नोपलब्भति ।
निग्गतायो ति निरयो इति वुत्तो तदञ्ञूहि[2] ॥

निरय आठ हैं। वे हैं–सञ्जीव, कालसूत्र, संघात, रौरव, महारौरव, तापन, प्रतापन तथा अवीचि। इन नरकों का वर्णन पिटकों तथा पिटकेतर ग्रन्थों में विस्तार से किया गया है। कहा गया है कि इनके चार प्राकार एवं चार द्वार हैं। इनकी लम्बाई चौड़ाई बराबर हैं। इनके चारों और लोहे की दीवार हैं और इनके छत्त भी लोहे निर्मित हैं। इसकी भूमि प्रज्वलित लोहे की है। यह अनेको योजन तक दीर्घ ज्वालाओं से सर्वदा व्याप्त रहता है।[3] यहाँ रहनेवाले प्राणी अपने अङ्गों को जलते हुए अनुभव करते हैं। अवीचि नरक में पड़ा प्राणी दुःखी एवं कातरस्वर में चिल्लाते हुए इधर-उधर भागते हैं, छटपटाते हैं। तृषित होने के कारण उसका शरीर क्षणभर में ही मुरझा जाता है। नष्ट होते हुए गात्रवाले, दुःखी, तड़पते, और गिरते हैं। वार वार मूर्छित होते हुए निराश, हतप्रभ हो अत्यन्त कष्ट सहते हैं।

---

1. अयतो सुखतो निग्गतो ति "निरयो" विभा. पृ. १२३।
   द्र. "सुखसञ्ञातो अत्थो एत्थ नत्थी ति निरयो। अट्ठ. सा. पृ. ३०९।
   द्र. "नत्थि एत्थ अस्सादसञ्ञितो अयो ति निरयो। वि. म. पृ. २९९।
   द्र. अ. सं. पृ. ४६९।
2. स. पा. गा. सं. १९९।
3. स. पा. गाथा १७९/द्र. जा. द्वि. भा. पृ. ६५, म. नि. तृ. भा. पृ. २५५, अं. नि. प्र. भा. पृ. १३१।

सिम्बलिदाय नरक सोलह अंगुल लम्बे एवं मोटे लोहे के काटों से युक्त है।[1] जिसके चारों ओर अग्निज्वाला एक योजन ऊपर की ओर उठती रहती है। चण्ड यमदूतों के द्वारा बार-बार दण्डित किए जाते हैं। चावुक, शक्ति से आहत होने पर वे काँटों में बिद्ध हो जाते हैं। इस प्रकार नारकीय प्राणियों को दारुण-दुःख भोगना पड़ता है। अवीचि, गूथनरक, कुक्कुलनिरय, शाल्मलीवन, असिपत्रवन और खारोदिका आदि नरक अत्यन्त भयावह है। अङ्गारपर्वत, रौरवनरक, संघात-नरक, कालदृष्टि, महायन्त्र, लौहकुम्भी आदि नरकों में पड़ा प्राणी अत्यन्त दुःख का अनुभव करता है। इसलिए ज्ञानवान् मनुष्य को भगवान बुद्ध के वचनों पर श्रद्धा रखते हुए पापकर्मो से विरत हो नारकीय दुःखों से बचना चाहिए। कहा गया है कि थोड़े सुख के लिए एक क्षण भी जिसने अकुशलकर्म किया है वह बहुत दिनों तक इस भयानक नारकीय दुःखों को झेलता है। इसलिए अकुशलकर्मों से डरना चाहिए, क्योंकि इसका फल भयावह है। अतः दुःख से भयभीत होनेवाले प्राणी नित्य ही कुशल का आदर करें और नारकीय दुःखों से मुक्त होकर निर्भय योगक्षेम को प्राप्त करें।

पुण्यफल संकेत गाथा

अलोभ, अद्वेष एवं अमोह ये तीन कुशल हेतु हैं। इनसे सम्प्रयुक्त चेतना कुशल चेतना कहलाती हैं। प्रज्ञादि गुणों से युक्त यह कुशल चेतना सुख देनेवाली होती है। कुशल चेतना जब दानादि पुण्यवस्तुओं में से एक एक से युक्त होती है तो वह उन-उन नामों से व्यवहृत होती है। यथा—दान चेतना, शीलचेतना आदि। दान, शील, भावना, पत्तिदान, प्राप्तानुमोदन, धर्मदेशना, धर्मश्रवण, पूजा, सेवा, प्रशंसा, शरणगमन तथा अनुस्मरण ये बारह पुण्य-वस्तुएँ हैं। अन्न, धन आदि दानयोग्य वस्तुओं का बुद्धिपूर्वक त्याग को दान कहते हैं। काय तथा वची अकुशल कर्म से विरत रहनेवाली चेतना तथा मिथ्या आजीविका से विरत रहने वाली चेतना को शीलचेतना कहते हैं। चित्त के उपक्लेशों की प्रतिपक्षचिन्ता को भावना कहा जाता है। लोभ, द्वेष, मोह आदि चित्त के उपक्लेश हैं अतः इनके विपक्ष अलोभ, अद्वेष एवं अमोह-युक्त चेतना के लिए प्रयत्न करना या उस प्रयत्न को बढ़ाना भावना है। प्राप्त पुण्य का दान देना ही "पत्तिदान" है। प्राप्त पुण्य के दान का अनुमोदन करना "पत्तानुमोदन है। कल्याण के अभिप्राय से दूसरों के लिए दिए गये हितोपदेश को देशनामय पुण्य कहते हैं। धर्मोपदेश को ध्यानपूर्वक सुनना "धर्मश्रवण पुण्यवस्तु है। श्रद्धाभाव से युक्त होकर गुणयुक्त पुरुषों के प्रति सत्कार, वन्दनादि क्रिया को "पूजा

---

1. स. पा. गाथा-१८१, १८८।

कहते हैं। अथवा पूजार्ह के प्रति सम्मान, सत्कार, वन्दना, श्रद्धा आदि को "पूजा" पुण्यवस्तु कहते हैं। रुग्ण, गुणज्ञ, गुरु, माता, पिता आदि की सेवा में संलग्न रहना 'वेय्यावच्च' (सेवा) पुण्यवस्तु है। कुशल कर्मों को करने वाले मनुष्यों के प्रति उत्साहजन्य प्रीति या उनके गुणों का वर्णन करना 'पसंसा' (प्रशंसा) नामक पुण्यवस्तु है। त्रिरत्न (बुद्ध, धर्म, संघ) की शरण में जाना ही 'शरण' नामक पुण्यवस्तु है। तथा अनुस्मरणीय वस्तुओं में अथवा अन्य कुशल धर्मों के गुणों का सतत् स्मरण करना 'अनुस्सति' पुण्यवस्तु है। बुद्धानुस्मृति, धर्मानुस्मृति, संघानुस्मृति, शीलानुस्मृति, त्यागानुस्मृति, देवतानुस्मृति, मरणानुस्मृति, कायगतानुस्मृति, आना-पानानुस्मृति, तथा उपशमानुस्मृति, ये दस अनुस्मृतियाँ हैं। इनके गुणों का बराबर स्मरण करना ही 'अनुस्सति' पुण्यवस्तु है।

दान से अनेक भोगों की प्राप्ति, शील से कुल मर्यादा की रक्षा तथा सुख। भावनामय पुण्यवस्तु से रूपारूपभव का ज्ञान तथा मोक्ष की प्राप्ति होती है। प्राप्त पुण्य का दान करने से जीवन में हर्ष की प्राप्ति तथा देशना एवं धर्मश्रवण पुण्य वस्तु से प्रज्ञा की प्राप्ति होती है। पूज्यनीय की पूजा से कुल का उदय, तथा पूज्यजनों की सेवा से परिवार सम्पूर्ण सम्पदाओं से सम्पन्न होता है। गुणज्ञों के गुणकीर्तन से प्रशंसा की प्राप्ति, शरणागमन से शरणागति मिलती है तथा 'अनुस्सति' पुण्यवस्तु से सभी सम्पत्तियाँ प्राप्त होती हैं। इस प्रकार इन बारह पुण्यवस्तुओं का सामान्य फल ऊपर कहा गया है, प्रत्ययों की विशेषता के फलस्वरूप इनके अनन्त पुण्य-फल होते हैं।

मार्ग तथा अर्पणा समाधि को छोड़कर भावनामय पुण्यवस्तु सम्पूर्ण कुशल की अवाप्ति कराता है। दान, शील एवं भावनामय पुण्यवस्तु कामलोक में पुण्यफल देनेवाला होता है। अतः इनके फलस्वरूप आयु, आरोग्य, वर्ण, यश, कीर्ति, सुन्दर-कुल, बल, राज्य, भोग-ऐश्वर्य तथा सुन्दर रूप आदि प्राप्त होते हैं। जो इन पुण्यवस्तुओं के सेवन करते हैं वे स्वर्गलोक में उत्पन्न हो अनुपम सुख को प्राप्त करते हैं। यहाँ उन सभी पुण्यफलों को विस्तार से बतलाया गया है, जिसे सद्धम्मोपायनं के पुण्यफल उद्देश गाथा में देखा जा सकता है। कहा गया है कि जो पुण्यकर्म निर्वाण की ओर ले जाने वाले हैं, वे विशिष्ट पुण्य कर्म हैं। जो श्रेष्ठ एवं उदार फल देने वाले हैं। ब्रह्मलोक की प्राप्ति करानेवाले पुण्यकर्म 'मध्यम' हैं। कामलोक में पाँच कामगुणों का सुख तथा हित एवं सुख के साधक पुण्य कर्म 'अत्यल्प' हैं।

इस अनित्य एवं दुर्बल शरीर को प्राप्त कर सर्वदा पुण्य कर्मों का सम्पादन करना चाहिए। क्योंकि पुण्यकर्म सभी सुखों का साधक है।

दान के शुभ परिणाम की गाथा

बारह पुण्यवस्तुओं में से दान प्रथम तथा अग्र है। दान परित्याग चेतना है।[1] अतः पुण्यकर्मों में इसका प्रथम स्थान है। 'दानचेतना' पुब्बचेतना, मुञ्चचेतना एवं अपरचेतना भेद से तीन प्रकार की है। 'दान दूँगा'–इस प्रकार के विचार से लेकर, देय वस्तु न होने पर भी उस वस्तु को प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करने से लेकर देता हूँ–इस प्रकार की चेतना के उत्पन्न होने के क्षण से पूर्वभाग तक उत्पन्न चेतना को 'पुब्बचेतना' कहते हैं। देता हूँ इस क्षण में उत्पन्न होने वाली चेतना को 'मुञ्चचेतना' कहा जाता है तथा दान के अनन्तर उस दान का स्मरण करके उत्पन्न सौमनस्यचेतना को अपरचेतना कहते हैं। दान स्वभावतः स्वर्ग और भोग को देनेवाला है तथा दान मोक्ष का आधार है। दानचित्त, दानवस्तु और दानप्रतिग्राहक के योग से दान भी हीन, मध्यम तथा श्रेष्ठ भेद से तीन प्रकार का होता है। कीर्ति एवं गुणों के लिए किया गया दान 'हीनदान', कुशल फल प्राप्ति की इच्छा से किया गया दान' मध्यमदान, तथा किसी फल की इच्छा न कर निष्काम भाव से किया गया दान उत्तम दान है। अथवा अपने को बड़ा दिखाने के लिये दिया गया दान 'हीन', लौकिक सुख की प्राप्ति के लिये किया गया दान मध्यम तथा मार्ग-फल प्राप्ति के लिए किया गया दान श्रेष्ठदान है। अथवा भवसम्पत्ति की कामना से किया गया दान 'हीनदान', अपने को सांसारिक प्रपञ्च से मुक्त होने के लिए किया गया दान 'मध्यम' तथा समस्त प्राणियों की मुक्ति के लिए की जाने वाली बोधिसत्त्वों की दान पारमिता 'प्रणीत दान' है।

देय्यवस्तु, दान-प्रतिग्राहक तथा दानकर्म से लोभादि का अभाव होता है इसलिए दान से 'त्याग' चित्त की प्राप्तिरूपी सम्पदा प्राप्त होती है। देय्यवस्तु की शुद्धता दानप्रतिग्राहक की योग्यता तथा दानचित्त की निर्मलता से दान का फल भी अतिश्रेष्ठ होता है। दान से लौकिक भोगसम्पदा तथा लोकोत्तर सम्पदा की प्राप्ति होती है। दान का पाँच सांदृष्टिक फल होते हैं–'दान देनेवाला व्यक्ति सबका प्रिय होता है, दान देनेवाले की कीर्ति फैलती है, दान देनेवाला जिस परिषद् में जाता है

---

1. म. नि. तृ. भा. पृ. ३३९, ३४४; अं, नि. तृ. भा. पृ. ३३६, ३४६।
"दीयति एतेना ति दानं, वत्थुपरिच्चाग चेतना।" प. दी. पृ. १९८ ॥
दीयति एतेना ति दानं परिच्चाग चेतना ॥ विभा. पृ. १३३
"तत्थ चीवरादीसु चतूसु पच्चयेसु, रूपादीसु वा छसु आरम्मणेसु अन्नादीसु वा दससु दानवत्थूसु तं तं देन्तस्स तेसं तेसं उप्पादनतो पट्ठाय पुब्बभागे, परिच्चागकाले, पच्छा सोमनस्सचित्तेन अनुस्सरणे चा ति तीसु कालेसु पवता चेतना 'दानमयं पुञ्ञकिरियवत्थु नाम"। अट्ठ. सा. पृ. १२९ ।
द्र.–अभि. को. ४; ११३ का. पृ. १२५, अभि. दी. पृ. २१०।

विशारद और दक्ष की भाँति जाता है। मरणक्षण में कम दुःख का अनुभव करता है तथा मरने पर स्वर्गादि लोक को प्राप्त करता है।

अकुशल कर्मों के फलस्वरूप मनुष्य नरकादि का भयानक दुःख भोगता है, तथा दानादि कुशल कर्मों के फलस्वरूप स्वर्गादि लोक को प्राप्त करता है। दान करनेवाला मनुष्य स्वर्गलोक में भी अप्सरासमूह से घिरा; अनेक आश्चर्य से मण्डित विमान को देखकर अत्यन्त प्रसन्न होता है। वह सोचता है कि मैंने सुकृत किया है इसलिए कुशलकर्मजन्य फल के कारण मैं स्वर्गलोक में उत्तम फल को प्राप्त कर सुख अनुभव कर रहा हूँ। वह अनेको से सेवित, आदरित, निर्भय तथा प्रसन्न होता है। दान देनेवाला व्यक्ति विश्वासी, सज्जनों के यश को बढ़ानेवाला, कुल का अलङ्कार तथा सबको प्रसन्न करनेवाला होता है। वह अनाथों का नाथ, सबसे प्रसन्न रहनेवाला, सज्जनों के साथ सुख से रहनेवाला होता है। जिस-जिस दिशा में दानी जाता है खाली हाथ जाता है, पर सभी वस्तुएँ उसे सर्वदा सुलभ होती हैं। वह लोभ, द्वेष तथा मोह से मुक्त होता है। इस प्रकार दान के अनेक गुणों की चर्चा करते हुए कहा गया है कि 'दान फलरूपी 'महाकोष' जो अक्षय है, जो दूसरों के लिए भी सुलभ है तथा अनन्त सुख को देनेवाला है। दान आपदाओं में मित्र है इसे कोई बाँट नहीं सकता, गुणों का समूह, कुल के अनुकूल और सर्वदा हित, सुखसाधक है। दान के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए कहा गया है कि 'दान संग्रहवस्तुओं में श्रेष्ठ है। स्वर्ग का सीधा मार्ग है। पारमिताओं में प्रथम तथा श्रेष्ट भोग एवं ऐश्वर्य प्रदान कराने वाला है। इस प्रकार दान के महान् गुणों को जानकर याचक को प्राप्त कर तथा दानवस्तु के रहते हुए भी यदि दान नहीं करता है तो वह निश्चित ही उस दान के महान फल से वञ्चित रह जाता है।

दान दुर्गतिनाशक है। इसीलिए दानपारमिता का पारमिताओं में प्रथम स्थान है। जातकों से स्पष्ट विदित होता है कि बोधिसत्त्व ने धन, यश स्त्री, पुत्र अंग तथा शरीर तक दान कर दिया था। बोधिसत्त्व के दानकृत्यों का वर्णन कई जातकों में किया गया है। अकीर्तिजातक, संखब्राह्मणजातक, महासुदर्शनजातक, महागोविन्द-जातक, नेभि महाराजजातक, राजा शिवि तथा राजा वेस्सन्तर के रूप में उनके दानकृत्यों का वर्णन मिलता है। शशजातक में तो शरीर तक दान किए जाने का उल्लेख है। अपने आप तक की त्याग की भावना परमार्थ पारमिता कहलाती है। इस तरह दान के महत्त्व का विशेष परिचय प्राप्त करने के लिए सद्धम्मोपायनं का दानानिसंस गाथा द्रष्टव्य है।

शील के शुभ परिणामों की गाथा

शील का अर्थ सदाचरण, सद्वृत्ति, शुद्ध चरित्र, सत्स्वभाव, रागद्वेष विहीनता, नम्रता, विनयशीलता आदि किया जा सकता है। त्रिपिटक तथा अनुपिटक साहित्य में 'शील' का विशद् वर्णन उपलब्ध होता । अकुशलधर्मों से विरत रहना ही शील है "पाणातिपातादीहि वा विरमन्तस्स वत्तपटिपत्तिं वा पूरेन्तस्स चेतनादयो धम्मा"[1]। अर्थात् जीवहिंसा, स्तेय (चोरी), व्यभिचार, असत्यवचन, कठोरवचन आदि से विरत रहना ही शील है। अथवा काय एवं वची कर्मों को भलीभाँति सन्धारण करना शील है।[2] अथवा दोषयुक्त काय एवं वचीकर्मों को अनवद्य एवं सुसमाहित कर सम्यक् प्रकार से स्थित करता है, कुशलधर्मों को धारण करता है,**अधार** रूप से स्थित रहता है इसलिए इसे शील कहा जाता है।[3]

उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट होता है कि अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, सत्यभाषण, मृदुभाषण, अपैशून्य तथा सार्थकवचन से युक्त होना ही शील है। विशुद्धि मार्ग में शील पर प्रकाश डालते हुए चेतनाशील, चैतसिकशील, संवरशील तथा अनुल्लंघनशील को शील कहा गया है। जीवहिंसा आदि से विरत रहनेवाले या व्रत प्रतिपत्ति पूर्ण करने वाले की चेतना ही चेतनाशील है। जीवहिंसा आदि से विरत रहनेवाले की विरति चैतसिक शील है। प्रातिमोक्षसंवर, स्मृतिसंवर, ज्ञानसंवर, क्षान्तिसंवर, और वीर्यसंवर से युक्त होना ही संवरशील है तथा ग्रहण किए हुए शील का शरीर और वाणी द्वारा उल्लंघन न करना ही अनुल्लंघनशील है। शील सभी कुशलधर्मों का आधार है। जिस तरह सभी प्रकार के बीज पृथ्वी के ऊपर आश्रित हो फूलते फलते हैं उसी तरह श्रद्धा, स्मृति, बल, बोध्यङ्ग आदि कुशल धर्म शील पर स्थित हो वृद्धि एवं वैपुल्य को प्राप्त करते हैं। इस प्रकार शील तीन विद्याओं की प्राप्ति का प्रधान कारण है। शील से कामसुख का त्याग, तथा अपाय से मुक्ति, अकुशलधर्मों का विनाश तथा दुराचार का निराकरण हो जाता है। साथ ही इससे श्रोतापत्ति, सकृदागामी मार्ग की प्राप्ति होती है।

शील के अनेक भेद है पर शीलन अर्थात् आधार या ठहराव के अर्थ में यह एक प्रकार का ही है। यह सभी कुशलधर्मों का आधार है तथा सभी कुशल धर्म शील में स्थित रहते हैं। अनाचार का नाश करना तथा निर्दोष गुणवाला होना

---

1. वि. म. पृ. ४, ५।
2. "सीलयतीति सीलं काय-वची-कम्मानि सम्मा दहति, सम्मा ठपेतीत्यत्थो। सीलयति वा उपधारेती ति सीलं, उपधारणं पनेत्थ कुसलानं अधिट्ठानभावो।" विभा., पृ. १३३।
3. "सीलयती ति सीलं, काय-वची-कम्मानि सावज्जानि निवारेत्वा अनवज्जानि सुसमाहितानि कत्वा सम्मा दहति, ठपेति, उपरिमे कुसलधम्मे च उपधारेति, तेसं पतिट्ठा हुत्वा धारेती ति अत्थो"। प. दी. पृ. १९८।
   द्र.–मिलि-पृ. ३५-३६, पटि. म. पृ. ४९-५३, विभ. पृ. ३८५।

इसका कृत्य है। परिशुद्ध होना इसके जानने का आकार है, और संकोच तथा लज्जा इसका आसन्न कारण है। अतः शील के पालन से कायिक, वाचसिक तथा मानसिक अतिचार का निषेध हो जाता है जिससे काय, वाणी और मन पूर्णतः संयम से युक्त हो शुद्ध हो जाता है। इसीलिए सद्धम्मोपायनं में कहा गया है कि– जिस प्रकार टिटहरी अपने अण्डेकी, चमरी गाय अपनी पूँछ की, माता एकलौते प्रिय पुत्र की तथा एक आँखवाला अपनी एकमात्र आँख की रक्षा करता है, उसी प्रकार शील की रक्षा करते हुए उसके प्रति सदा प्रेम तथा गौरव करने वाले बने।[1]

शील अनेक प्रकार के बताये गये हैं जैसे पञ्चशील, अष्टशील, दसशील आदि। जीवहिंसा न करना, चोरी न करना, ब्रह्मचर्य का पालन करना, मृषावचन से विरत रहना तथा मद्यपान न करना ये पंचशील हैं। इसे नित्यशील तथा शीर्ष शील भी कहा जाता है। यह भिक्षु, भिक्षुणी, उपासक, उपासिका सबके लिए पालनीय है। कायकर्म, वचीकर्म की शुद्धि के साथ आजीविका की शुद्धि को आजीव अष्टमक कहा जाता है। सद्धम्मोपायनं में कहा गया है कि "जो प्राणी दुःशील से विरत रहते हैं वे वैर रहित, भयरहित, द्वेषरहित, तथा रोषरहित हो सुख को प्राप्त करते हैं। चार प्रकार के शील का वर्णन करते हुए कहा गया है प्रातिमोक्षसंवरशील, इन्द्रिय संवरशील, आजीव पारिशुद्धिशील तथा प्रत्ययसन्निश्रितशील की रक्षा श्रद्धा, स्मृति, उत्साह (वीर्य) तथा प्रज्ञा से करनी चाहिए।

प्रस्तुत प्रकरण शीलगुणों पर प्रकाश डालता है। शील का गुण क्या है? इस प्रश्न का समाधान करते हुए कहा गया है कि "पश्चात्ताप न करना आदि शील के अनेक गुण है"। भगवान् बुद्ध ने शील के पाँच गुण बतलाये हैं वे हैं सभी भोग ऐश्वर्य की प्राप्ति, शीलवान की कीर्ति सर्वत्र फैलती हैं, शीलवान जिस सभा में जाता है वह निर्भीक, निःसंकोच तथा पण्डित की तरह जाता है। शीलवान विना बेहोश हुए मरता है तथा मरने के उपरान्त स्वर्गलोक में उत्पन्न होता है साथ ही सब्रह्मचारियों में प्रिय होता है। इस प्रकार पश्चात्तांप न करना आदि शील का अनेक गुण हैं। शील गुणों की चर्चा करते हुए कहा गया है कि–"जिसके विना कुलपुत्रों को धर्म में प्रतिष्ठा नहीं होती, उस शील के गुणों के विस्तार को कौन कह सकता है। शील गन्ध के समान दूसरी गन्ध नहीं हो सकती जो हवा के अनुकूल और प्रतिकूल दोनों दिशाओं में फैलती है। शील स्वर्ग का सोपान है तथा निर्वाण नगर का द्वार है। शील सम्पूर्ण गुणों का मूल है। सम्पूर्ण दोषों के बल को नष्ट करने वाला है अतः ऐसे शील के गुणों की गाथा जितनी गाई जाय वो कम ही है।

---

1. द्र. वि. म.– पृ. २३।

इस प्रकार परिपूर्ण किया गया शीलरत्न इस लोक तथा परलोक दोनों के लिए उपादेय तथा इष्ट है साथ ही यह निर्वाण प्राप्ति में साधक है। इस प्रकार शीलगुणों का चिन्तन करते हुए जीवनरक्षा के लिए भी शील का खण्डन नहीं करना चाहिए। सज्जन पुरुष अखण्डशील से युक्त होकर प्रमादरहित हो निर्वाण को प्राप्त करें।

भावना के गुणों की गाथा

जो श्रेष्ठ कुशलचित्तों का उत्पाद करती है या बढ़ाती है उसे 'भावना' कहते हैं।[1] जब भावना प्रारम्भ की जाती है तब कुशलचित्त उत्पन्न होते हैं। कुशलचित्तों के अनन्तर पुनः पुनः भावना करने से वे कुशलचित्त दृढ़ होते हैं तथा बढ़ते हैं। "कम्मट्ठान" परिच्छेद् में आनेवाली शमथ भावना एवं विपश्यनाभावना–इन दोनों को भावना कहते हैं।[2] ध्यानभावना को शमथ, तथा मार्गभावना (श्रोतपत्ति, सकृदागमी, अनागामी तथा अर्हत मार्ग भावना) को विपश्यना भावना कहते हैं।

"भावना एवं ञानञ्च मग्गो ति च विपस्सना।
समथो ति च निद्दिट्ठा अवत्थन्तर भेदतो॥

नीवरणों से रहित चित्त की एकाग्रता और एक आरम्मण पर चित्त, चैतसिकों का समान रूप से स्थिति (ठहराव) को ध्यान कहते हैं जो शेष ध्यानांगो (वितर्क, विचार, प्रीति, सुख, एकाग्रता) से मण्डित है। इसे ही शमथ अथवा समाधि कहा गया है। ध्यान पाँच हैं प्रथम ध्यान, द्वितीय ध्यान, तृतीय ध्यान, चतुर्थ ध्यान तथा पंचम ध्यान। इसे रूपावचर ध्यान कहा जाता है। जो पञ्चमध्यान सम्मत एकाग्रता है वही आलम्बनभेद से अरूपावचर ध्यान कहलाता है। अरूपावचर ध्यान में उपेक्षा एवं एकाग्रता रहती है। अरूपावचर ध्यान की गणना पंचम ध्यान में की गई है। साथ ही अरूपावचर ध्यान में आलम्बनों का समतिक्रमण होता है न कि अङ्गों का। अरूपावचर ध्यान चार हैं–आकाशानन्त्यायतन, विज्ञानान्त्यायतन, आकिञ्चन्यायतन, तथा नेवसंज्ञानासंज्ञायतन। इस प्रकार पाँच रूप ध्यान तथा चार अरूप ध्यान को शमथ कहते हैं।

अनित्य अनात्म और दुःख रूप में सभी धर्मों का यथाभूत दर्शन को विपश्यना कहते हैं। चार मार्ग ज्ञान का आलम्बन निर्वाण होता है अतः मार्गज्ञान निर्वाण

---

1. "भावेन्ति एताया ति 'भावना'। अधिकुसलधम्मे अनुप्पन्ने वा उप्पादेन्ति, उप्पने वा वड्ढेन्ती ति अत्थो"। प. दी., पृ. १९८। "भावेति कुसलधम्मे आसेवति वड्ढेति एताया ति "भावना"। विभा. पृ. १३३
द्र.–अट्ठ. सा., पृ. १२९; विभ. ; पृ. ३८५,' विभ. अ. पृ. १४५।
पटि., पृ. ५३-५५, विसु म., पृ. ५७-५९।
2. उपरि वुच्चमाना समथविपस्सनावसेन दुविधा भावना 'भावना' नाम। प. दी. पृ. २०२।

प्राप्त कराने वाले धर्मों में अग्र है। शमथ और विपश्यना को प्राप्त करना ही 'भावना' है। शमथ और विपश्यना निर्वाण नगर को प्राप्त कराने में रथ के धुरा और जुआ के समान हैं। जिस प्रकार रथ धुरा और जुआ के विना गन्तव्य तक नहीं पहुँच सकता उसी प्रकार शमथ और विपश्यना की भावना के विना योगी निर्वाण प्राप्त नहीं कर सकता। शमथ और विपश्यना की युगनद्धता से सभी सिद्धियों की प्राप्ति सम्भव है।

'भावना' के (आनृशंस) फल पर प्रकाश डालते हुए कहा गया है कि इसी जन्म में सुखविहार के लिए, विपश्यना के लिए, संसार सम्पत्ति की कामना के लिए अर्थात् कामसुगतिभूमि की प्राप्ति के लिए तथा पाँच अभिज्ञाओं की प्राप्ति के लिए 'भावना' करना आवश्यक है। भावना के गुणों की चर्चा करते हुए कहा गया है कि जो ध्यानभावना के अनुभव का सुख है वह इन्द्र के सुख से भी अधिक है। जिस तरह साफ एवं मलरहित जल में अपना मुख साफ दीखता है उसी प्रकार मलरहित निर्मल चित्त से विपश्यना भावना सुखद होती है। भावना बल से युक्त योगी पाँच अभिज्ञाओं (विशिष्ट ज्ञान) को प्राप्त करने में उसी प्रकार सफल होता है जिस प्रकार अच्छी तरह से साधित विद्या। इसलिए 'कम्मट्ठानों' में चित्त को लगाते हुए एकाग्रता के बाधक नीवरणों को समाप्त कर काम पर विजय प्राप्त करते हुए रूप के गरुभार को समाप्त कर अरूपभव की आसक्ति को छोड़कर संसार के सम्पूर्ण पदार्थों को नाशवान एवं क्षणिक जानकर उत्साह और परक्रम से युक्त हो बोधिपाक्षिक धर्मों की भावना कर भावनाबल को प्राप्त योगी–जरा, मृत्यु से रहित विगत क्लेश होकर अद्भुत, अतुल्य, नित्य अत्यन्त शान्त निर्वाण को प्राप्त करता है।

प्राप्त पुण्य के दान के गुण की गाथा

प्राप्त कुशल का समभाग देना पत्तिदान है।[1] जब व्यक्ति सर्वप्रथम किसी वस्तु का दान करता है, तब उस दान की कारणभूत चेतना दायक में ही प्राप्तब्य होने से "पत्ति" कही जाती है। उस प्राप्त कुशलभाग को किसी एक सत्त्व के या सम्पूर्ण सत्त्वों को उद्देश्य कर 'यह कुशल जितना मुझे प्राप्त हुआ है, उतना किसी एक को या सम्पूर्ण प्राणियों को प्राप्त हो'–ऐसा संकल्प कर देने की चेतना को 'पत्तिदान' कहा जाता है।[2] जैसे किसी दीप से दूसरा दीप जला लेने से प्रथम दीप का प्रकाश कम नहीं होता, वरन प्रकाश में वृद्धि ही होती है, उसी प्रकार अपने द्वारा अर्जित

---

1. प. दी., पृ. १९८, विभा, पृ. १३३।
2. प. दी., पृ. २०१।

पुण्य को दूसरों को देने से दाता में होनेवाले दान का पुण्य बढ़ते ही है, कम नहीं होते।[1] अट्ठकथाओं में दान करके उसका समभाग दूसरों के लिए विसर्जित करना 'पत्तिदान' कहा गया है। किन्तु 'संगीतिसुत्तटीका' में अन्य कुशल अर्थात् शील, भावना आदि करके उसके समभाग का दूसरों के लिए देने को भी 'पत्तिदान' कहा गया है।[2]

'पत्तिदान' के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए 'सद्धम्मोपायनं' में कहा गया है कि–"अपने लिए अपेक्षा न कर करुणा और कृतज्ञता के साथ पुण्य के दान का अत्यन्त महत्त्व है। प्रत्युपकार की भावना से युक्त, आशारहित होकर पुण्य का दान करना अत्यन्त प्रशंसनीय है।

कर्मदोष से प्रेत हुए प्राणियों को अथवा इस संसार में लाचार लोगों का उपकार करना पुण्य का कार्य है। 'प्रेत' को दिए जानेवाले (पिण्डदान) प्रेत को प्राप्त होता है। जो जो दानवस्तु उसको उद्देश्य कर देते हैं वे दानवस्तुएं उसी क्षण उसे प्राप्त हो जाते हैं। सारिपुत्र ने अपनी प्रेत बनी माता के लिए पुण्य दान दिया था जिससे उनकी माता प्रेतयोनि से मुक्त हुई और सारिपुत्र को ज्ञानियों में श्रेष्ठ कहा गया। इस प्रकार प्रेत बने अपने सगे सम्बन्धियों को भी 'पत्तिदान' प्राप्त होता है। स्वयं के कर्मजन्य दोष से दुर्गति में पड़े वे प्रेत 'पत्तिदान' के द्वारा दुर्गति से मुक्त हो सकते हैं, अथवा पत्तिदान के द्वारा उनका उद्धार किया जा सकता है। अतः शान्त, कृतज्ञ सत्पुरुष को करुणायुक्त हो 'पत्तिदान' देना चाहिए।

अनुमोदन के गुणों की गाथा

दूसरों द्वारा दिये गये कुशल भाग का अनुमोदन करने की कारणभूत चेतना 'पत्तानुमोदन' है।[3] दानस्वामी द्वारा दिये गये समभाग का साधुवाद करने से 'पत्तानुमोदन' कुशल होता है। अट्ठसालिनी में 'अब्भनुमोदन' करने के कारण दानस्वामी द्वारा दिये गये समभाग दान कुशल के प्रति अनुमोदन की अपेक्षा करके 'परेहि दिन्नाय पत्तिया वा' कहा गया है, तथा दानस्वामी द्वारा समभाग नहीं दिये गये दानकुशल एवं शीलपालन करनेवाले के शीलकुशल-आदि के प्रति किये गये अनुमोदन की अपेक्षा करके 'अञ्ञाय व पुञ्ञकिरियाय'–व्याख्या की गई है। इनमें

---

1. अ. सा., पृ. २६२।
2. अ. सा. पृ. २६२।
3. विभा. पृ. १३३। "तदेव परेहि दिन्नं अनुमोदन्ति, साधुकारं ददन्ति एतेनाति पत्तानुमोदनं।
   प. दी. पृ. १९८।
   द्र. अ. सा., पृ. १२९।

से समभाग देने के कारण अनुमोदन करना 'पत्तानुमोदन होता है। समभाग न देने पर भी किया गया अनुमोदन केवल अनुमोदन ही होता है, पत्तानुमोदन' नहीं।

पत्तानुमोदन के गुणों की चर्चा करते हुए 'सद्धम्मोपायनं' में कहा गया है कि– "इर्ष्या, द्वेष, मात्सार्य तथा विहिंसा को नाश कर प्रसन्न रहने वाला व्यक्ति गुणीजनों का अनुमोदन करता है। पुण्य का अनुमोदन करने वाला जहाँ-जहाँ उत्पन्न होता है वहाँ-वहाँ महातेजस्वी, सुन्दररूपवाला, भोगवाला, दीर्घायु तथा सर्वदा प्रसन्न रहनेवाला होता है। जलपूर्ण स्वर्णझारी हाथ में लेकर संघ को दान दिया; फलस्वरूप श्री एवं ऐश्वर्य को प्राप्त किया। कहा गया है कि "अनुमोदनजन्य पुण्य" को जो चित्त प्रसादक है, उस महाफल को जो प्राप्त नहीं करते वे सर्वदा सोचनीय हैं। अतः पुण्यदान का अनुमोदन कर पुण्यभाग बनना चाहिए।

देशना के सुपरिणाम की गाथा

बौद्धधर्म में बुद्धोपदेश का अत्यन्त महत्त्व है। परकल्याण की भावना से सत्त्व को सन्मार्ग पर लाने वाला उपदेश को 'देशना' कहते हैं। बोधि ज्ञान के अनन्तर भगावान् बुद्ध को धर्मदेशना करने की उत्सुकता नहीं थी पर प्राणियों की भलाई के लिए सहम्पत्ति ब्रह्मा के प्रार्थना करने पर उन्होंने सत्त्वों पर करुणा कर ४५ वर्षों तक धर्मोपदेश कर संसार से मुक्त होने का मार्ग बतलाया! जिससे अनेको प्राणी भवबन्धन से मुक्त हो निर्वाण का साक्षात्कार किया। यह धर्मोपदेश ही 'देशना' कही जाती है।

लाभ, सत्कार, यश आदि की इच्छा न करके प्राणियों के हित सुख के लिए पवित्र चेतना द्वारा की गई धर्मदेशना 'कुशलधर्मदेशना' कही जाती है। प्रस्तुत प्रकरण में धर्मदेशना के शुभ परिणामों का वर्णन किया गया है। कहा गया है कि अनेको बार स्त्री, पुत्र, नेत्र आदि को दान कर पराक्रम के द्वारा प्राप्त धर्म का उपदेश करना ही देशना है। सदुपदेश के अभाव में अल्पमलवाले प्राणी जिनकी संख्या अनन्त है, निर्वाण का स्पर्श नहीं करते। इसलिए सद्धर्म को सावधानीपूर्वक यथातथ्य सीखकर सद्धर्मगुरु होकर अज्ञानीजनों को बतावें। धर्म की देशना परोपकार परक है, अतः देशना के महत्त्व को समझकर सबके भलाई के लिए धर्मोपदेश करना चाहिए। "सब्बदानं धम्मदानं जिनाति" धर्म का दान सभी दान को जीत लेता है; इसीलिए भगवान् बुद्ध ने सर्वलोकहित के लिए धर्मदेशना की है। कहा गया है कि धन देने पर शीघ्र नष्ट हो जाता है, पर धर्मदेशना रूप दान से धन एवं धर्म दोनों बढ़ते हैं। मन में अच्छी तरह धारण करना (योनिसो मनसिकार) और सद्धर्म की देशना मार्गज्ञान का हेतु है। धर्मों के स्वभाव का ज्ञान, संसार के दुर्गुणों का ज्ञान तथा चार आर्य सत्यों का यथाभूतज्ञान ये सब 'देशना' के

द्वारा ही सम्भव है। उपदेशक सभी सम्पत्तियों के कारणभूत धर्म की देशना करता है इसलिए इस लोक में सर्वसम्पत्तिरूप फल को प्राप्त करता है। इस प्रकार देशना के महान् फल को जानकर समर्थ पुरुष को देशना करनी चाहिए। देशना रूपी पुण्यवस्तु का अधिगम कर निर्वाण मार्ग को प्रशस्त करें।

धर्मश्रवण के गुण की गाथा

सद्धर्म को सुननेवाले तथा तदनुसार आचरण करने वाले को जितना आनन्द और पुण्य प्राप्त होता है उतना आनन्द सम्पूर्ण सम्पत्तियों को प्राप्त कर नहीं हो सकता। जिस तरह तपे हुए लौहपिण्ड पर मक्षिका नहीं बैठती उसी प्रकार धर्मश्रवण रूप अग्नि से सन्तप्त चित्त में क्लेश रूपी मक्षिकाओं का प्रवेश नहीं होता। कहा गया है कि भगवान् बुद्ध का उपदेश गम्भीर, तथ्यपूर्ण, स्पष्ट, मधुर तथा अमृतोपम है। उस सद्धर्म को प्रज्ञावान् मनुष्य सुनते हैं तो परमप्रीति को प्राप्त करते हैं। धर्मरस का पान करने वाले सत्पुरुष प्रसन्न हृदय से धर्मश्रवण करते हैं। सद्धर्मश्रवण के विना इस लोक में सद्धर्म का ग्रहण नहीं हो सकता, धर्मश्रवण के विना निर्वाण का अधिगम नहीं हो सकता। कहा गया है कि अनेक सौ कल्प तक शास्ता द्वारा उत्साहित किये जाने पर भी धर्मश्रवण के विना सद्धर्म में प्रतिष्ठा नहीं हो सकती। धर्म श्रवण प्रज्ञा एवं बुद्धि को बढ़ानेवाला तथा सद्धर्म को स्थित रखनेवाला है, अतः सद्धर्मामृत का पान कर प्रज्ञा का लाभ कर सद्धर्म की स्थिति को दृढ़ बनाना चाहिए। अतः लोकप्रशंसा की अपेक्षा न कर अपनी प्रज्ञा को बढ़ाने के लिए तथा दूसरों को उस सद्धर्म की देशना करने के लिए 'धर्मश्रवण' करना चाहिए। इस पुण्यकर्म से चित्त प्रसन्न होता है तथा चित्त के मल धूल जाते हैं। प्रज्ञा के अधिगम से शान्त शीतल स्थान को प्राप्त कर व्यक्ति धन्य धन्य हो संसार से पार हो जाता है।

पूजा के गुण की गाथा

पूजा का सामान्य अर्थ पवित्रता की उपज है। कुशलचेतना से युक्त होकर अभिवादन करना, सेवा करना तथा आदरभाव व्यक्त करना 'पूजा' है। माता, पिता, गुरु एवं धर्मानुकूल आचरण करने वाले श्रमण एवं ब्राह्मणों के प्रति सम्मान व्यक्त करना एवं उनका अभिवादन करना 'पूजा' है। पूजा च पूजनीयानं एतं मङ्गलमुत्तमं" के अनुसार पूज्यनीय जनों की पूजा, आदर करना उत्तम मंगल बताया गया है। पूजा के शुभपरिणामों को 'पूजानिसंस' कहा जाता है। पूजा के माहत्म्य पर प्रकाश डालते हुए कहा गया है "मान को छोड़कर आदरभाव से समन्वित हो उपकार का स्मरण कर श्रद्धा और कृतज्ञता से युक्त होकर वन्दनादि करना सत्कार करना

'पूजा' है। जो आदरणीय एवं पूज्यजनों की श्रद्धासहित पूजा करते हैं वे धनाढ्य तथा प्रकाशमान कुल में उत्पन्न होते हैं, साथ ही वह निर्भय, प्राणियों में श्रेष्ठ तथा पूजनीय होते हैं तथा वे जहाँ-जहाँ उत्पन्न होते हैं संपूज्य होते हैं।

'सद्धम्मोपायनं में कहा गया है कि" श्रद्धेय के प्रति श्रद्धा करने से मनुष्य सभी अङ्ग-प्रत्यङ्गों से परिपूर्ण तथा सर्वदा प्रसन्न रहने वाला होता है। कृतज्ञ, गुणवान द्वारा 'पूजा' किए जाने के फलस्वरूप सामान्यजनों को भी समृद्धि मिलती है। इसलिए उपकारी के उपकार को स्मरण कर पण्डितजन कृतज्ञता से युक्त होकर उनको आदर सत्कार समर्पित करें। कहा गया है कि "जो अभिवादन शील है तथा सदा वृद्धजनों की सेवा करनेवाले हैं। उनकी चार वस्तुओं की वृद्धि होती है। वे हैं—आयु, वर्ण, सुख एवं बल। पूज्यनीय जनों की पूजा करना ही उत्तम मंगल है। इस गाथा के द्वारा पूजा के माहात्म्य का प्रतिपादन किया गया है। कहा गया है कि "जो बुद्ध, धर्म एवं संघ को एक बार भी अञ्जलिबद्ध होकर अभिवादन करता है वह भवजन्य दु:ख की अग्नि को अशेषत: नष्ट करने में समर्थ होता है। अत: इस नाशवान, दुर्बल शरीर से पूज्यनीय जनों के प्रति श्रद्धा व्यक्त कर पूजाजन्य महान फल को अवश्य प्राप्त करें।

सेवा के सद्‌गुणों की गाथा

श्रेष्ठजनों की सेवा में संलग्नता ही 'वेय्यावच्च' पुण्यवस्तु है। गुरु, माता, पिता एवं रोगी आदि व्यक्तियों की सेवा करना तथा उनके कार्यों में सहायता करना 'वेय्यावच्च' है। सेवा के महान् गुणों की चर्चा करते हुए 'सद्धमोपायनं' में कहा गया है कि "दूसरों की सहायता करने वालों को लाभ, मनोरथ की सिद्धि तथा परिवारसम्पत्ति की प्राप्ति होतीहै। रोगी एवं गुणवानजनों की सेवा तथा दानादि कार्यों के द्वारा दूसरों की सहायता करने से अपार शुभफल का भागी होता है। भगवान ने कहा है कि "जो रोगी की सेवा टहल करता है वह मेरी सेवा करता है, अत: रोगी व्यक्ति की सेवा शुश्रुषा का अत्यन्त महत्त्व है।[1]

सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, स्वयम्भू और पुरुष श्रेष्ठ भगवान् बुद्ध भी लोक कल्याण की भावना से सेवा करते हैं यह सेवाभावना का कैसा अद्भुत चमत्कार है। बुद्ध आदि गुणज्ञों की सेवा का क्या गुण या माहात्म्य है इसका वर्णन करना कठिन है। ऐसा सोचकर क्षणभंगुर शरीर से दूसरों की सेवा करने के फलस्वरूप उत्पन्न पुण्य का अवश्य अर्जन करना चाहिए।

---

1. सद्ध. गा. सं. ५५५-५५७।

प्रसन्नता के सद्गुणों की गाथा

पुण्यकर्मों की प्रशंसा करनेवाला मनुष्य सर्वदा प्रसन्न तथा सज्जनों द्वारा प्रशंसित होता है। पुण्यकर्मों को करनेवाले के गुणों से प्रहर्ष उत्पन्न होता है, जिससे वह गौरवान्वित होता है। पुण्यकर्म की प्रशंसा करनेवाला मनुष्य विशाल प्रज्ञा को प्राप्त करता है। कहा गया है कि "पुण्य कर्मों के प्रति अश्रद्धा रखनेवाला मनुष्य अज्ञान से आवृत इस लोक में अनर्थों का सहयोगी होता है। यदि मनुष्य पुण्यकर्मों का आदर करता है तो फलस्वरूप वह शास्ता के कार्यों का सम्पादन करने वाला होता है। पुण्यानुमोदन तथा देशना के महत्त्व को पहले बताया जा चुका है। सम्पहर्षन (प्रसन्नता) के महत्त्व को उसी प्रकार यहाँ प्रतिपादित किया गया है।

शरणागमन के सद्गुणों की गाथा

बौद्ध धर्म में त्रिशरण का अत्यन्त महत्त्व है। जो बुद्ध, धर्म तथा संघ की शरण में जाते हैं वे संसार दुःखों से मुक्त हो जाते हैं। जब कोई पुरुष भगवान् बुद्ध के उपदेश को सुनकर श्रद्धायुक्त हो शुद्धहृदय से उनके बताये मार्ग का अनुशरण करने की इच्छा व्यक्त करता है कि मैं बुद्ध की शरण जाता हूँ, धर्म की शरण जाता हूँ तथा सङ्घ की शरण जाता हूँ तो इसे ही 'शरणागमन' कहा जाता है। बुद्ध, धर्म, एवं संघ की शरण में जाना ही 'शरणागमन' है।

'शरण' शब्द की व्याख्या क्रम में कहा गया है कि "तत्थ सरणं ति पदत्थतो ताव हिंसती ति सरणं। हिंसत्थस्स हि सरसद्दस्स वसेनेतं पदं दट्ठबं, तस्मा सरणागतानं तेनेव सरणगमनेन वट्टभयं चित्तुत्रासं कायिकं दुक्खं दुग्गति परियापन्नं सब्बम्पि दुक्खं हनति, विनासेती ति अत्थो। रतनत्तयस्सेवेतं अधिवचनं[1]। शरण शब्द का अर्थ "विनाश करने वाला" होता है। शरण में गये पुरुषों का भय, संत्रास, दुःख, दुर्गति, परिक्लेश आदि का हनन करता है, विनाश करता है, इसलिए वह शरण है। 'शरण' शब्द त्रिरत्न का अधिवचन है। जो हितकारक धर्मों की प्रवृत्ति तथा अहितकारक धर्मों की अप्रवृत्ति द्वारा सत्त्वों के भय, संत्रास एवं दुःख को विनष्ट करता है इसलिए त्रिशरणगमन महान फलदायक है।

त्रिरत्न की शरण में जाना उत्तम मंगल है। लोकोत्तर शरणागमन से चार श्रामण्यफल, मार्गज्ञान, फलज्ञान तथा निर्वाण का अधिगम बताया गया है। धम्मपद में कहा गया है कि–"जो बुद्ध, धर्म तथा संघ की शरण में जाता है, वह दुःख, दुःख का कारण, दुःखनिरोध तथा दुःखनिरोधगामिनी प्रतिपदा रूप चार आर्यसत्यों

---

1. सा. दी. टी. भा. १ पृ. २११। सु. नि. भा. १ पृ. २५५।

को सम्यक् प्रज्ञा से देखता है, यही उत्तम शरण क्षेमप्रद है, कल्याणप्रद है तथा यही उत्तम शरण है। ऐसे शरणगमन से सभी दु:ख नष्ट हो जाते हैं।"[1]

लौकिक शरणागमन से भवसम्पदा तथा भोग सम्पदा दोनों प्राप्त होते हैं। शरणागत पुरुष इस लोक में भी सुखी रहता है तथा उसका परलोक भी सुखकर होता है। इसीलिए कहा गया है कि जो कोई बुद्ध, धर्म, तथा संघ की शरण में जाता है वे अपायादि में नहीं जाते। मनुष्य देह को छोड़ने पर वे देवभूमि में उत्पन्न होंगे।[2]

'सद्धमोपायनं' में शरणागमन के गुणों के व्याख्यान क्रम में कहा गया है कि "कारुणिक भगवान् बुद्ध जिन्होंने मार को पराजित कर सत्त्वों में करुणा वितरित की है, उन तथागत की शरण मंगलदायक है। उनका सद्धर्म सुआख्यात है, संसारभय को नष्ट करनेवाला है। अत: सद्धर्म की शरण में जाना ही उत्तम मंगल है। अमृतरस को बराबर पीनेवाले, सद्धर्म रूप औषध के पात्र, पुण्यक्षेत्र रूप भिक्षुसंघ की शरण में जाना सर्वोत्तम मंगल है। विशेष ज्ञान के लिए 'सरणानिसंस गाथा'–द्रष्टव्य है।[3]

अनुस्मरण के सद्गुणों की गाथा

बौद्धधर्म में अनुस्मृति का महत्त्वपूर्ण स्थान है। बुद्ध; धर्म एवं संघगुणों का अनुस्मरण अत्यन्त लाभदायक है। अनुस्मृति एक कर्मस्थान भी है जिसका वर्णन विशुद्धिमार्ग में विस्तार से किया गया है। यहाँ मात्र बुद्ध, धर्म एवं संघ के गुणों का अनुस्मरण के माहात्म्य को दर्शाया गया है। 'भगवान् बुद्ध अर्हत् सम्यक् सम्बुद्ध, विद्या एवं आचरण से युक्त, लोक को जाननेवाले, अनुपम पुरुषों के दमन करने वाले सारथी और देव मनुष्यों के शास्ता है"।[4] इस प्रकार बुद्धभगवान के गुणों का अनुस्मरण करना चाहिए। इसे ही 'बुद्धानुस्सति' कहा गया है। भगवान् बुद्ध का धर्म स्वाख्यात है, तत्काल फलदायक है, यहीं दिखाई देनेवाला, निर्वाण तक पहुँचाने वाला और विज्ञजनों द्वारा अपने आप ही जानने योग्य है;[5] ऐसे 'परियत्ति'[6] धर्म

---

1. धम्मपद–पृ. ४२।
2. "ये केचि बुद्धं सरणं गतासे, न ते गमिस्सन्ति अपायभूमिं। पहाय मानुसं देहं, देवकायं परिपूरेस्सन्ती" ति। दी. नि. भा. २ पृ. २७४।
3. सद्ध. गा. सं. ५६९ से २०० तक।
4. "इति पि सो भगवा अरहं सम्मासम्बुद्धो विज्जाचरणसम्पन्नो सुगतो लोकविदू अनुत्तरो पुरिसदम्मसारथि सत्था देवमनुस्सानं बुद्धो भगवा' ति"। वि. म. पृ. १३३।
5. "स्वाक्खातो भगवता धम्मो सन्दिट्ठिको अकालिको एहिपस्सिको ओपनेय्यिको पच्चत्तं वेदितब्बो विञ्ञूही' ति"। वि. म. पृ. १४४।
6. त्रिपिटक को 'परियत्ति' धर्म कहते हैं।

तथा नौ प्रकारके लोकोत्तर[1] धर्म के गुणों का अनुस्मरण करना चाहिए। इसे 'धम्मानुस्सति' कहा गया है। पुनः भगवान् का श्रावकसंघ सुमार्ग पर चल रहा है, भगवान का श्रावक संघ सीधे मार्ग पर चल रहा है, भगवान का श्रावक संघ न्याय मार्ग पर चल रहा है, भगवान का श्रावक-संघ उचित मार्ग पर चल रहा है, जो कि यह चार-युगल और आठ पुरुष पुदुल हैं, यही भगवान् का श्रावक-संघ है, वह आह्वान करने के योग्य है, पाहुन बनाने के योग्य है, दान देने के योग्य है, हाथ जोड़ने के योग्य है और लोक के लिए पुण्य बोने का सर्वोत्तम क्षेत्र हैं।[2] इस प्रकार आर्य-संघ के गुणों का अनुस्मरण करना चाहिए। इस तरह त्रिरत्न के गुणों का बार-बार स्मरण करना ही अनुस्मरण है। इनके अनुस्मरण से राग, द्वेष एवं मोह से चित्त निर्लिप्त हो जाता है, और चित्त तथागत के प्रति, धर्म के प्रति तथा संघ के प्रति सीधा हो जाता है। बुद्धगुणों का बार-बार स्मरण करने से प्रीति उत्पन्न होती है, प्रीति युक्त मनवाले को प्रश्रब्धि उत्पन्न होती है। प्रश्रब्धि से सुख उत्पन्न होता है तथा सुखी का चित्त समाधिस्थ हो जाता है।

बुद्धानुस्मृति में लगा हुआ भिक्षु शास्ता का गौरव और प्रतिष्ठा करने वाला होता है। वह श्रद्धा, स्मृति, प्रज्ञा और पुण्य के आधिक्य को प्राप्त होता है। प्रीति और प्रमोद-बहुल होता है। भय-भैरव को सहनेवाला तथा दुःख को सहने की सामर्थ्य वाला होता है। उसे शास्ता के साथ रहने का विचार होता है। बुद्ध-गुणानुस्मृति के साथ रहनेवाले का शरीर भी चैत्य के समान पूजनीय होता है। तथा वह सुगतिपरायण होता है। इसीलिए 'सद्धमोपायनं' में कहा गया है कि–बुद्ध के एक गुण का भी यदि जानते हुए अनुस्मरण किया जाय तो फलस्वरूप वैसी प्रीति उत्पन्न होती है जैसी किसी ऐश्वर्य प्राप्त व्यक्ति में भी विद्यमान नहीं रहती। बुद्ध के गुणों का अनुस्मरण करते ही राग, द्वेष और मोहाग्नि क्षणमात्र में वैसे ही शान्त हो जाता है जैसे महान् बाढ़ से अग्नि शान्त हो जाता है। त्रिरत्न के अनुस्मरण से मनुष्य, अमनुष्य, नाग, रोग और अग्निजन्य भय नहीं होता है। अतः संसार से मुक्ति चाहनेवाले को अनुस्मरणीय बुद्ध, धर्म तथा संघ का आदर सहित सतत् स्मरण करना चाहिए।[3]

---

1. चार आर्यमार्ग, चार फल और निर्वाण–नौ लोकोत्तर धर्म हैं।
2. 'सुपटिपन्नो भगवतो सावकसंघो, उजुपटिपन्नो भगवतो सावकसंघो, ञायपटिपन्नो भगवतो सावकसंघो, सामीचिपटिपन्नो भगवतो सावकसंघो, यदिदं चत्तारि पुरिस-युगानि अट्ठपुरिस-पुग्गला, एस भगवतो सावकसंघो, आहुनेय्यो, पाहुनेय्यो, दक्खिणेय्यो, अञ्जलिकरणीयो अनुत्तरं पुञ्ञक्खेत्तं लोकस्सा' ति।' वि. म. पृ. १४७।
3. द्र. सद्धम्मोपायनं; गा. सं. ५८0 से ५८७ तक।

अप्रमाद के गुणों की गाथा

"अप्पमादानिसंस" गाथा के द्वारा अप्रमाद के माहात्म्य का वर्णन किया गया है। भगवान बुद्ध ने भिक्षुओं को सम्बोधित कर कहा था "वय धम्मा संखारा, अप्पमादेन सम्पादेथ" अर्थात् सभी संस्कार अनित्य है, इसलिये हे भिक्षुओं अप्रमाद के साथ सभी कुशल कर्मों को सम्पादित करें। अतः बौद्ध धर्म में अप्रमाद का महत्वपूर्ण स्थान है। इसलिये अप्रमाद को अमृत पद तथा प्रमाद को मृत्यु पद कहा गया है। अप्रमादी मनुष्य की मृत्यु नहीं होती और प्रमादी मनुष्य मृतक के समान ही है।

"अप्पमाद अमत पदं पमादो मच्चुनो पदं
अप्पमत्ता न मियन्ती ये पमत्ता मता यथा"।[1]

अप्रमाद का सामान्य अर्थ अनालस्य, प्रमाद रहित, सावधान, जागरूक आदि होता है। पर इसका विशेष अर्थ मानसिक एवं शारीरिक अनालश्य किया जा सकता है। स्त्यान मिद्ध एक अकुशल चैतसिक है। जिसके कारण हमारा मन एवं शरीर प्रमाद युक्त हो जाता है इस प्रमाद के राहित्य को अप्रमाद कहते हैं। अप्रमाद के कारण मनुष्य में कर्मण्यता, उत्थानशीलता, जागरूकता, तथा सावधानता का प्रादुर्भाव होता है जिससे मनुष्य अपने लक्ष्य को पूरा करने में सफल होता है। अतः धम्मपद में अप्रमाद की प्रशंसा करते हुए कहा गया है कि मेधावी मनुष्य अप्रमाद संयम और दमन के द्वारा अपने आप को दीप बना ले। जिसे जल का प्रवाह घेर न सके। प्रमाद के दुर्गुणों को बताते हुए भगवान बुद्ध ने कहा है कि मूर्ख तथा बुद्धिहीन मनुष्य प्रमाद में मन लगाते हैं तथा मेधावी मनुष्य अप्रमाद की इस प्रकार रक्षा करता है जैसे श्रेष्ठ धन की रक्षा की जाती है। कहा गया है कि पण्डित अप्रमाद से प्रमाद को दूर कर देता है तब वह प्रज्ञा के महल पर चढ़कर शोक रहित हो जाता है। अप्रमाद में रत भिक्षु, प्रमाद में भय को देखने वाला पतन के योग्य नहीं होता वरन निर्वाण के समीप होता है। इन्द्र अप्रमाद के द्वारा देवताओं में श्रेष्ठता को प्राप्त हुए इसलिये सभी अप्रमाद की प्रशंसा करते हैं और प्रमाद सदैव निन्दनीय है। इस प्रकार सर्वत्र अप्रमाद के माहात्म्य पर विशेष प्रकाश डाला गया है। जो उद्योगी है, सावधान है, जागरूक और कर्मण्य है वह व्यक्ति सर्वदा सफल और सबके द्वारा प्रशंसनीय होता है। अतः प्रस्तुत प्रकरण में अप्रमाद के गुणों की चर्चा करते हुए कहा गया है कि प्रमाद को दूर कर अप्रमाद का सेवन करना चाहिए क्योंकि प्रमाद सभी दोषों का मूल है, और अप्रमाद सभी गुणों का हेतु है। इस प्रकार अप्रमाद के गुणों पर इसमें विशेष रूप से प्रकाश डाला गया है।

---

1. विशेष ज्ञान के लिए सद्धम्मोपायनं द्रष्टव्य है।

सद्धम्मोपायनं

सद्धम्मोपायनं

नमो तस्स भगवतो अरहतो सम्मासम्बुद्धस्स ।

सब्बासवविनिम्मुत्तं सब्बसाधुगुणाकरं ।
सब्बलोकगरुं वीरं हितं अमतमग्गदं ॥ १ ॥

सब्बादरेन वन्दित्वा सम्मासम्बुद्धमादितो ।
अथ धम्मञ्च सङ्घञ्च सद्धाय मुद्धना अहं ॥ २ ॥

सद्धम्मोपायनं किञ्चि रचयिस्सामि पेसितुं ।
नामतो बुद्धसोमस्स पियसब्रह्मचारिनो ॥ ३ ॥

१. अक्खण-दीपन-गाथा

अट्ठक्खणविनिम्मुत्तं खणं परमदुल्लभं ।
उपलद्धेन कत्तब्बं पुञ्ञं पञ्ञवता सदा ॥ ४ ॥

तयो अपाया आरुप्पासञ्ञं पच्चन्तिमम्पि च ।
पञ्चिन्द्रियानं वेकल्लं मिच्छादिट्ठि च दारुणा ॥ ५ ॥

अपातुभावो बुद्धस्स सद्धम्मामतदायिनो ।
अट्ठक्खणा असमया इति एते पकासिता ॥ ६ ॥

कारेन्तो कम्मकरणं निरये अतिदारुणं ।
भयानकं भुसं घोरं कथं पुञ्ञं करिस्सति ॥ ७ ॥

सद्धम्मोपायनं

सद्धर्म की भेंट

सभी आश्रवों[1] से मुक्त, सभी साधु गुणों के आकर (खान) सभी लोकों[2] के गुरू, वीर, (दस बलों से युक्त) सबके हितैषी, अमृतत्त्व (निर्वाण) के उपदेष्टा सम्यक्सम्बुद्ध को धर्म तथा संघ को सर्वप्रथम श्रद्धा के साथ मैं (ग्रन्थकार) सिर से वन्दना कर प्रिय ब्रह्मचारी बुद्धसोम के लिए 'सद्धर्म की भेंट' नामक ग्रन्थ की रचना करूँगा ॥ १,२,३ ॥

उपर्युक्त दो गाथाओं के माध्यम से ग्रन्थकार ने ग्रन्थ निर्विघ्न पूर्ण हो सके इसके लिए मङ्गलाचरण स्वरूप बुद्ध, धर्म एवं संघ की वन्दना की हैं, तथा तीसरी गाथा के द्वारा ग्रन्थ रचना के प्रयोजन का निर्देश किया है। उन्होंने स्पष्ट बतलाया है कि यह रचना प्रिय सब्रह्मचारी बुद्धसोम को सद्धर्म की भेंट की है।

१. अक्खण-दीपन-गाथा

अक्षणों को बतलाने वाली गाथा

आठ अक्षणों से विनिर्मुक्त क्षण अत्यन्त दुर्लभ हैं, यदि ऐसे क्षण प्राप्त हों तो प्रज्ञावान् मनुष्य को सर्वदा पुण्य का सम्पादन करना चाहिए ॥ ४ ॥

(ब्रह्मचर्यवास के लिए अनुपयुक्त क्षण को अक्षण कहा जाता है। इसका स्पष्ट उल्लेख अंगुत्तर निकाय के अट्ठक निपात में मिलता है। 'अक्खणसुत्त' में इन आठ अनुपयुक्त क्षणों को विस्तार से बताया गया है।[3] उन्हीं आठ अनुपयुक्त क्षणों का परिचय यहाँ गाथाओं के माध्यम से दिया गया है।)

तीन अपाय, (असुर, प्रेत, और तिर्यक्) आरुप्य,-असंज्ञीभव, सीमा प्रान्त, इन्द्रियवैकल्य (अन्ध, वधिर, मूक इत्यादि) मिथ्यादृष्टि से युक्त मनुष्य तथा सद्धर्मामृत के उपदेष्टा भगवान् बुद्ध का अप्रादुर्भाव का काल, इन आठ अक्षणों को असमय कहा गया है। इन आठ अक्षणों में कुशल (पुण्य) का संचयन करना अत्यन्त कठिन है ॥ ५, ६ ॥

---

1. चत्तारो आसवा-कामासवो, भवासवो, दिट्ठासवों, अविज्जासवो ।
2. कामलोक, रूपलोक तथा अरूपलोक ।
3. द्र. अं नि. भा. ३, पृ. ३२८.३२९ ।
   द्र-क्षणसम्पदियं सुदुर्लभा प्रतिलब्धा पुरुषार्थसाधनी ।
   यदि नात्र विचिन्त्यते हितं पुनरप्येष समागमः कुतः ॥ बोधि., पृ. ७ ॥

सद्धम्मसञ्ञारहिते सदा उब्बिग्गजीविते ।
तिरच्छानभवे सन्तो कथं पुञ्ञं करिस्सति ॥ ८ ॥

गन्त्वान पेत्तिविसयं सन्तापपरिसोसितो ।
खुप्पिपासापरिस्सन्तो कथं पुञ्ञं करिस्सति ॥ ९ ॥

आरुप्पासञ्ञालोकेपि सवणोपायवज्जितो ।
सद्धम्मसवणाहीनो कथं पुञ्ञं करिस्सति ॥ १० ॥

अच्चन्ताधम्मबहुले मुनिन्दसुतवज्जिते ।
पच्चन्तविसये जातो कथं पुञ्ञं करिस्सति ॥ ११ ॥

जळो मूगादिको वापि विपाकावरणे ठितो ।
गहणोपायरहितो कथं पुञ्ञं करिस्सति ॥ १२ ॥

पक्खन्तो पापिकं दिट्ठिं सब्बथा अनिवत्तियं ।
संसार-खाणुभूतो हि कथं पुञ्ञं करिस्सति ॥ १३ ॥

बुद्धादिच्चे अनुदिते सिद्धिमग्गावभासके ।
मोहन्धकारे वत्तन्तो कथं पुञ्ञं करिस्सति ॥ १४ ॥

यं भावनामयं पुञ्ञं सच्चाभिसमयावहं ।
तस्स अनोकासभावेन एते अक्खणसम्मता ॥ १५ ॥

अट्ठक्खणविनिमुत्तो खणो परमदुल्लभो ।
तं लद्धा को पमज्जेय्य सब्बसम्पत्तिसाधकं ॥ १६ ॥

निरय[1] (नरक) में अतिदारुण कर्मो को करते हुए, भयानक तथा घोर कष्टो से युक्त, वारम्बार नारकीय यातनाओं को सहते हुए भला पुण्य कार्यों को कैसे कर पायेगा? अर्थात् नारकीय प्राणियों के लिए पुण्य का अर्जन करना कठिन है। ॥ ७ ॥

सर्द्धम की चेतना से रहित, सर्वदा उद्विग्न जीवन बाला तिर्यक्‌योनि[2] (पशु, पक्षी, कीड़े आदि) में रहते हुए भला पुण्य का अर्जन कैसे कर सकेगा? ॥ ८ ॥

पेत्तिविसय[3] (एक नरक विशेष जहाँ प्रेत निवास करते हैं) में जाकर दुःख एवं सन्ताप को भोगते हुए क्षुधा और पिपासा से परिश्रान्त एवं दुःखी पुण्य (कुशल) कैसे कर सकेगा? ॥ ९ ॥

आरुप्य-असंज्ञीभव[4] में धर्मश्रवणरूपी उपाय से रहित, सद्धर्मश्रवण से हीन होने के कारण पुण्य कैसे कर सकेगा? ॥ १० ॥

अत्यन्त अधर्मबहुल, बुद्धश्रावकों (भिक्षुओं) से रहित सीमाप्रान्त[5] में उत्पन्न होकर पुण्य का संचयन कैसे कर सकेगा? ॥ ११ ॥

जड़ (मन्दबुद्धि) गूँगा[6] आदि भी विपाकावरण से ग्रसित अर्थात् अकुशल कर्मों के फलस्वरूप सद्धर्म ग्रहण के साधन से विरहित प्राणी भला कैसे पुण्य का अर्जन कर सकेगा ॥ १२ ॥

अकुशल दृष्टि या मिथ्या दृष्टि में रत्त प्राणियों के लिए संसार ठूठे पेंड़ के समान है (जिस प्रकार ठूँठे पेड़ में पत्र, पुष्प एवं फल नहीं हो सकता उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि में फँसे प्राणी को संसार से निकलना आसान नहीं होता) अतः पाप दृष्टि से युक्त संसार में रत्त प्राणी भला पुण्य कैसे कर सकेगा? ॥ १३ ॥

बुद्ध रूपी सूर्य के उदय नहीं होने से सिद्धिमार्ग (आर्यअष्टांगिक मार्ग) प्रतिभाषित नहीं होता; अतः मोहान्धकार में रहते हुए सिद्धि मार्ग के अवभाषक बुद्ध रूपी अदित्य के उदित न होने पर मोह रूपी अन्धकार में रहता हुआ (व्यक्ति) भला पुण्य कैसे कर सकेगा ॥ १४ ॥

1. द्र. अं. नि., भा. ३, पृ. ३२८ ।
2. द्र. अं. नि. भा. ३, पृ. ३२८ ।
3. द्र. अं. नि. भा. ३, पृ. ३२८ ।
4. पुन च परं, भिक्खवे..... ·पे. .....अयं च पुग्गलो अञ्ञतरं दीघायुकं देवनिकायं उपपन्नो होती....पे. .....चतुत्थो अक्खणों असमयो ब्रह्मचरियवासाय। अं. नि. भा. ३ पृ. ३२८ ।
द्र. अं. नि., ३२९ ।
,. द्र. अं. नि., ३२९ ।

अवेकल्लमनुस्सत्तं बुद्धादिच्चाभिमण्डितं ।
सुदुल्लभतरं तम्हि खणे निब्बानसिद्धिया ॥ १७ ॥

हेतुदुक्करतो चेव सारतो च महग्घतो ।
महासारं व रतनं मनुस्सत्तं सुदुल्लभं ॥ १८ ॥

मनुस्सत्तस्स हेतुहि पुञ्ञं तं अतिदुक्करं ।
लोके हि पुञ्ञकामानं मन्दता तस्स साधिका ॥ १९ ॥

पुञ्ञस्स दुक्करत्तञ्च अपुञ्ञसुकरत्तनं ।
घरं कत्वान दानेन दहनेन च वेदियं ॥ २० ॥

पापे अनादरेनापि सततं वत्तते मनो ।
पुञ्ञे अच्चादरेनापि नदिया साधितब्बकं ॥ २१ ॥

यथा दिस्सन्ति सम्पुण्णा अपुञ्ञाफलभूमियो ।
तथा पुञ्ञा न दिस्सन्ति पुञ्ञानं फलभूमियो ॥ २२ ॥

पिपीलिकानं पुञ्जो हि बिला एका विनिग्गतो ।
किं नु सो नातिरिच्चेय्य मनुस्से जम्बुदीपके ॥ २३ ॥

पुञ्ञस्स दुक्करत्ता व मनुस्सत्तं सुदुल्लभं ।
बीजाभावे फलाभावो अलं तं पटिभावितुं ॥ २४ ॥

यं यं हि सम्मतं लोके तत्थ तं सारसञ्ञितं ।
ततो सारं मनुस्सत्तं साधुसम्मतभावतो ॥ २५ ॥

जो भावनामय पुण्य है वह सत्य के प्रतिवेध की ओर ले जानेवाला है। उसके लिए अवकाश न रहने के कारण ये 'अक्षण' कहे गये हैं। अर्थात् भावना के लिए अयोग्य क्षण को (अक्खण) अक्षण कहा गया है ॥ १५ ॥

इस प्रकार तीन अपाय (नरक, तिर्यक् तथा प्रेत) एक आरुप्यसंज्ञीसत्त्व, सीमा प्रदेश में निवास, इन्द्रिय विकलता, मिथ्यादृष्टि और बुद्ध का अप्रादुर्भाव इन आठ क्षणो को अक्खण (अक्षण) कहा गया है। इन आठ क्षणों को छोड़कर शेष क्षण अत्यन्त दुर्लभ हैं। इन क्षणों को प्राप्तकर भला कौन प्रमाद (आलस्य) करेगा। अतः सर्वसम्पत्ति के साधक इन क्षणों को प्राप्त कर प्रमाद रहित होकर पुण्य कर्मों का सम्पादन करना चाहिए ॥ १६ ॥

अविकल मनुष्यत्व को प्राप्त कर, बुद्धरूपी सूर्य के आलोक से अभिमण्डित दुर्लभ क्षण को प्राप्त कर निर्वाण लाभ के लिए प्रयत्न करना चाहिए क्योंकि ऐसा क्षण निर्वाण प्राप्ति में साधक होता है ॥ १७ ॥

मनुष्यत्व के हेतु को प्राप्त करना कठिन है। यह अत्यन्त सारवान है तथा बहुमूल्य है। बहुमूल्य पदार्थो की भाँति मानव जीवन सार है। जिस प्रकार बहुमूल्य रत्न को प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है उसी प्रकार मनुष्यत्व को प्राप्त करना अत्यन्त दुर्लभ है ॥ १८ ॥

मनुष्य होने में हेतुभूत पुण्य का अर्जन करना कठिन है। अतः संसार में पुण्य की इच्छा रखने वाले को धीरे-धीरे पुण्य का संचयन करना चाहिए; क्योंकि शनैः शनैः कुशल कार्य करना ही पुण्य का साधक होता है ॥ १९ ॥

पुण्य को प्राप्त करना कठिन है (अर्थात् कुशल कार्य करना कठिन है) तथा अपुण्य अर्थात् अकुशल कार्य करना आसान है। अतः दानादि कुशल कर्मों को करते हुए पुण्य को अर्जन करना चाहिए तथा अकुशल कर्मो को जानकर उसका परित्याग कर देना चाहिए ॥ २० ॥

अनादर होने पर भी मन बराबर पाप कर्मों की ओर ही दौड़ता है, और अत्यन्त आदर की प्राप्ति होने पर भी मन पुण्य (कुशल) की ओर शीघ्रता से नहीं जाता अर्थात् पुण्य कर्मों का सम्पादन नहीं करता है ॥ २१ ॥

जिस प्रकार अपुण्य (अकुशल) का सम्पूर्ण फल अकुशल भूमि में तत्काल दिखाई देता है, उसी तरह पुण्य का फल पुण्यभूमि में शीघ्र दिखाई नहीं देता है ॥ २२ ॥

उळारफलदं कम्मं निब्बानावहमेव च ।
इध इज्झति सब्बं ति ञेय्या एत्थ महग्घता ॥ २६ ॥

एवमादीहि हेतूहि मनुस्सत्तं सुदुल्लभं ।
तस्सालाभे तु सग्गादि सम्पत्ति चेव दुल्लभा ॥ २७ ॥

अच्चन्तलामकायापि अत्तत्थपटिपत्तिया ।
लभनीयं मनुस्सत्तं यदि एवं सुदुल्लभं ॥ २८ ॥

अथो अच्चन्तसेट्ठाय परत्थपटिपत्तिया ।
दुक्करत्तस्स उपमा तिलोके पि न विज्जति ॥ २९ ॥

पुत्तस्स दुक्खं कत्वापि लोके अत्तसुखत्थिके ।
परत्थं पटिपज्जन्तो को हि नाम भविस्सति ॥ ३० ॥

असन्थुतस्स लोकस्स सरणं ति अयाचितो ।
अकतञ्ञुस्स दुट्ठस्स को सिया भारवाहको ॥ ३१ ॥

नरकङ्गारमज्झम्हि ठपेत्वा सीतलं जलं ।
को चिरमनुरक्खेय्य सीतीभावं अनिद्धिमा ॥ ३२ ॥

तथेव सत्तदोसग्गिसम्पदित्ते भवावटे ।
करुणासीतलीभावं पालयिस्सति को चिरं ॥ ३३ ॥

परानुभवियं दुक्खं सब्बमत्तनि रोपितुं ।
येसं निच्चं अविच्छिन्नो विमोक्खन्तो मनोरथो ॥ ३४ ॥

जिस प्रकार चीटियों का समूह एक ही बिल से निकल जाता है, उसी प्रकार जम्बुदीप के मनुष्य क्या संसार रूपी बिल से निकल कर निर्वाण को प्राप्त नहीं कर सकते? ॥ २३ ॥

जिस प्रकार पुण्य अर्जन करना कठिन है उसी प्रकार मनुष्यत्व को प्राप्त करना भी कठिन है। जैसे बीज के अभाव में फल का अभाव होता है, उसी प्रकार पुण्य कर्मों के अभाव में मनुष्यत्व प्राप्त करना भी दुर्लभ है ॥ २४ ॥

संसार में जो कुछ भी सार पदार्थ मान्य हैं, उनमें मनुष्य होना सार है, श्रेष्ठ है। मनुष्य हो कर भी साधु स्वभाव से युक्त होना अत्यन्त सार है, ऐसी सज्न्नों की मान्यता है ॥ २५ ॥

उत्तम या श्रेष्ठ फल देनेवाला कर्म निर्वाण की ओर ले जाने वाला होता है। अतः कुशल कर्मों की ऐसी महार्घता को जानकर मनुष्य पुण्य कर्मों को करने में सफल होते हैं ॥ २६ ॥

इस प्रकार पुण्य (कुशल) हेतुओं के अभाव में मनुष्यत्व प्राप्त करना कठिन है। मनुष्यत्व लाभ के अभाव में स्वर्गादि सम्पत्ति को प्राप्त करना अत्यन्त दुर्लभ है ॥ २७ ॥

अत्यन्त निकृष्ट प्राणी भी अपनी भलाई के लिए प्रतिपन्न या प्रयत्नशील रहते हैं, अतः यदि मनुष्यत्व दुर्लभ है तो उसे प्राप्त करने के लिए सतत् प्रयत्नशील रहना चाहिए ॥ २८ ॥

इसलिए अत्यन्त श्रेष्ठता को प्राप्त करने के लिए परोपकार में प्रतिपन्न होना चाहिए। क्योंकि परोपकार करना कठिन है। परोपकार की उपमा तीनों लोकों में नहीं है, अर्थात् परार्थ अनुपमेय है ॥ २९ ॥

अपने सुख के लिए लोक (संसार) में पुत्र को भी दुःख दिया जाता है। अतः ऐसी स्थिति में परार्थ (परोपकार) में कौन अपने आप को लगायेगा, अर्थात् कोई-कोई सज्जन ही परोपकार में प्रतिपन्न रहते हैं ॥ ३० ॥

उपद्रवयुक्त इस लोक में जिसने त्रिशरण की याचना नहीं की, जो कृतघ्न तथा दुष्ट है उसके संसार भार को ढ़ोने वाला कौन हो सकता है? अर्थात् कोई नहीं ॥ ३१ ॥

रज्जदानोचितताया बुद्धरज्जं असङ्कमं ।
अददन्ता चिरं ठातुं लज्जितावाभिनिब्बुता ॥ ३५ ॥

ये परत्थपरा लोके वीरा सारगुणाकरा ।
दुक्करत्तं हि विञ्ञाता को तेसं पटिपत्तिया ॥ ३६ ॥

अवीचीव निरस्सादं लोकं ञत्वा दुखद्दितं ।
केवलं परसत्तत्थं को समत्थोवगाहितुं ॥ ३७ ॥

येसं नेत्तादिदानेसु पस्सन्नरुहिरस्स च ।
समानभावं नोपेन्ति चतुरोपि महण्णवा ॥ ३८ ॥

तेसं पुञ्ञेकदेसम्पि सद्धाताहि सुदुल्लभो ।
कातुं तस्सादरं कत्वा को हि नाम भविस्सति ॥ ३९ ॥

एवं सुदुल्लभत्ता व परत्थपटिपत्तिया ।
बुद्धादिच्चोदयो चापि मतो अच्चन्तदुल्लभो ॥ ४० ॥

बुद्धादिच्चे अनुदिते मग्गं निब्बानसाधकं ।
ब्रह्मिन्दचन्दादिच्चापि न सक्कोन्ति विभावितुं ॥ ४१ ॥

यथाट्ठानसभावाय गरुभावेन लेड्डुया ।
उद्धं खेपेन आकासे ठानं अतिपरित्तकं ॥ ४२ ॥

दोसेहि सीदापेन्तस्स तथेवापायभूमियं ।
अतीव बहुकं ठानं मन्दं सुगतियं मतं ॥ ४३ ॥

नरकाग्नि के मध्य स्थित प्राणी को शीतल जल में रखकर कौन बहुत दिनों तक रक्षा कर सकता है? तथा ऋद्धिरहित मनुष्य को कौन निर्वाण (सीतीभाव) दिला सकता है, अर्थात् कोई नहीं ॥ ३२ ॥

उसी तरह सात प्रकार की द्वेषाग्नि प्रज्वलित इस संसार चक्र में पड़े प्राणी को करुणाशीतलभाव से युक्त हो कौन अधिक दिनों तक पालन कर सकेगा ॥ ३३ ॥

दूसरे के दुःख को अपना दुःख समझने वाले (ज्ञानी) पुरुष का मनोरथ निश्चित पूर्ण होता है और वह मुक्त हो जाता है ॥ ३४ ॥

राज्यदान करने का सामर्थ्य रखते हुए भी जो व्यक्ति बहुत दिनों तक विना दिये स्थित रहता है, वह बुद्धराज्य में नहीं पहुँच सकता और नहीं निर्वाण को प्राप्त कर सकता है। वरन् लज्जित होता है ॥ ३५ ॥

जो संसार में परोपकार में रत हैं। सार गुणों के समूह है। वीर हैं। दुष्कर कार्यों को जानने वाले है, उनकी साधना को कौन जान सकता है ॥ ३६ ॥

अवीची नरक की तरह निरस्वाद इस लोक को दुःख में देखकर जो परोपकार में रत हैं उनके सामर्थ्य का अवगाहन करने में कौन समर्थ हो सकता है ॥ ३७ ॥

जिन्होंने प्रसन्नचित्त से नेत्रादि तक दान कर दिया है, उनकी उस दान चित्त की गम्भीरता की तुलना चारो महासमुद्र से भी नहीं की जा सकती है ॥ ३८ ॥

उनके उस सुदुर्लभ पुण्य के एकदेश मात्र को श्रद्धापूर्वक प्राप्त करने के लिए उनका सम्मान कर, पुण्य कार्य करने में कौन समर्थ होगा ॥ ३९ ॥

इस प्रकार के दुर्लभ परार्थ (प्रतिपत्ति, परोपकार के साधन) को प्राप्त करना बुद्ध रूपी सूर्य के उदय होने पर भी अत्यन्त कठिन है ॥ ४0 ॥

बुद्ध रूपी सूर्य के उदय नहीं होने पर निर्वाण साधक मार्ग (आर्यअष्टांगिक मार्ग) को ब्रह्मा, इन्द्र, चन्द्र तथा सूर्य भी प्रकाशित करने में समर्थ नहीं हो सकते ॥ ४१ ॥

जिस प्रकार भारी ढेला (पत्थर का टुकड़ा) जिस स्थान से ऊपर की ओर फेंके जाने पर पुनः उसी स्थान पर गिरता है क्योंकि उसके लिए आकाश में अत्यन्त कम स्थान होता है ॥ ४२ ॥

एकपुग्गलसुत्तेन काणकच्छोपमेन च ।
उभिन्नं दुल्लभत्तं हि वेदितब्बं विजानता ॥ ४४ ॥

उभयेसं समायोगो खणो अच्चन्तदुल्लभो ।
अत्तदत्थपरो विञ्ञू न विरोधेय्य तं खणं ॥ ४५ ॥

खणस्स दुल्लभत्ता व बुद्धपुत्ता अतन्दिता ।
कामं तचो नहारु च अट्ठि च अवसुस्सतु ॥ ४६ ॥

अदिस्वा अच्चुतं सन्तं पदं सम्बुद्धदेसितं ।
न ताव पल्लङ्कमिमं भिन्दिस्साम कथञ्चन ॥ ४७ ॥

इति सब्बादरेनापि भावेत्वा मग्गमुत्तमं ।
खणभङ्गभयातीतं पत्ता परमनिब्बुतिं ॥ ४८ ॥

तेसं परमवीरानं उस्साहोव अचिन्तियो ।
किं न दीपेति अम्हाकं खणग्गस्सातिपातकं ॥ ४९ ॥

दुल्लभमतिपातिञ्च लद्धा ठानमिमं बुधो ।
जीविते जालमज्झट्ठमकसस्सेव अप्पके ॥ ५० ॥

अप्पस्सादेसु भोगेसु निस्सारेसु पभङ्गुसु ।
सब्बदा अघमूलेसु असज्जन्तो कथञ्चन ॥ ५१ ॥

जनो जीवितुकामो व विदितं विसभोजनं ।
पापं सम्परिवज्जेत्वा पुञ्ञकम्मरतो सिया ॥ ५२ ॥

अक्खण-दीपन-गाथा समत्ता ।

पठमो कण्डो ।

उसी प्रकार द्वेष के कारण अपाय भूमि में डुबाये गये प्राणियों के लिए वहाँ अधिक स्थान होता है, पर सुगति भूमि में उनके लिए अत्यन्त कम स्थान होता है ॥ ४३ ॥

बुद्ध का प्रादुर्भाव तथा अविकल इन्द्रियों[1] से युक्त होना ये दोनों अत्यन्त दुर्लभ हैं। इसे एकपुद्गलसुत्त तथा काणकच्छपोपम सुत्त के वर्णन के आधार पर जानना चाहिए ॥ ४४ ॥

इन दोनों के समायोग का क्षण अत्यन्त दुर्लभ है, इसलिए अपनी भलाई में लगे विज्ञ पुरुष ऐसे क्षण को प्राप्त कर व्यर्थ न जाने दें ॥ ४५ ॥

ऐसे दुर्लभ क्षण के महत्त्व को समझकर बुद्ध श्रावक आलस्य को छोड़कर ऐसा संकल्प करें कि जब तक त्वचा, न्हारू, हड्डी अवशेष रहे तब तक बुद्धोपदेशित अच्युत एवं शान्त पद (निर्वाण) का साक्षात्कार किये बिना इस आसन को कभी भी नहीं छोड़ूँगा ॥ ४६,४७ ॥

इस प्रकार आदर सहित मार्ग की भावना कर क्षण बीतने के भय से मुक्त हो गया और निर्वाण को प्राप्त कर लिया ॥ ४८ ॥

उस परमवीर भगवान बुद्ध का उत्साह भी अचिन्त्य है। क्या हम लोगों को क्षण का महत्त्व दिखाई नहीं पड़ता? अतः ऐसे क्षण के महत्त्व को समझकर क्षण के अग्रभाग को भी व्यर्थ जाने देना अहितकर है ॥ ४९ ॥

ऐसे दुर्लभ क्षणों को प्राप्त कर पण्डितजन निर्वाण को प्राप्त करते हैं तथा जो इन क्षणों के महत्त्व को नहीं समझते वो जाल में जैसे मच्छड़ फँस जाते हैं वैसे ही जीवन भर संसार जाल में फँसे रहते हैं ॥ ५० ॥

अप्रसन्नता प्रदान करने वाले काम भोगों को निस्सार, क्षणभङ्गुर और सभी पापों का मूल समझकर उससे अनासक्त होकर उसका परित्याग कर देना चाहिए ॥ ५१ ॥

जीवन की इच्छा रखने वाले प्राणी को विषभोजन के समान समझकर अकुशल का त्याग कर देना चाहिए तथा पुण्य कर्म में लग जाना चाहिए ॥ ५२ ॥

अक्षणदीपन गाथा समाप्त ।

प्रथम काण्ड समाप्त ।

---

1. द्र. अं. नि., अक्खणसुत्त पृ. ३२९ ।

२. दस-अकुसल-आदीनवगाथा

पापं ति लोभमोहेहि दोसमोहेहि वा पुन ।
सुद्धमोहेन वा युत्ता चेतना पापसञ्ञिता ॥ ५३ ॥

पापचेतनाजातानि द्वारत्तयवसेन च ।
अपुञ्ञकिरियवत्थूनि दस होन्तीति दीपये ॥ ५४ ॥

हिंसा थेय्यञ्ञदारानं गमनं कायिका मता ।
मुसा पेसुञ्ञफरुसं सम्फवाचाहि वाचिका ॥ ५५ ॥

अभिज्झा चेव व्यापादो मिच्छादिट्ठि च मानसा ।
एते कम्मपथप्पत्ता असम्पत्ता च वेदिया ॥ ५६ ॥

हिंसादिभावसम्पत्ता पापचेतनसम्भवा ।
कम्मपथं असम्पत्ता वेदियारोधनादिका ॥ ५७ ॥

सत्ते सत्तोति सञ्ञा च वधकचित्तमुपक्कमो ।
तेन जीवितनासो च सहत्था चतुरङ्गिको ॥ ५८ ॥

यथाधिप्पाय-आणत्ति तथा तं सम्पटिच्छनं ।
पटिञ्ञं अविनासेत्वा तथा'व करणम्पि च ॥ ५९ ॥

पयोगं हेट्ठा वुत्तेसु छड्डेत्वा सह तेहि च ।
छळङ्गाणत्तिया हेति पाणहिंसा ति दीपये ॥ ६० ॥

२. दस अकुसल आदीनवगाथा
दस अकुशल कर्मों के दुर्गुणों की गाथा

लोभ, मोह के साथ अथवा द्वेष, मोह के साथ या केवल मोहयुक्त चेतना को अकुशल चेतना कहते हैं ॥ ५३ ॥

(अकुशल कर्म लोभ, मोह, द्वेष, मोह तथा केवल मोह नामक अकुशल मूलों से युक्त अकुशल चेतना का नाम है। लोभ, द्वेष तथा मोह, तीन अकुशल मूल हैं, इनसे युक्त चित्त को अकुशल चेतना कहते हैं। जब चित्त में लोभ उत्पन्न होता है तो मोह भी उसके साथ ही रहता है। मोह का अर्थ अज्ञानता है। अज्ञानता के कारण ही लोभ उत्पन्न होता है। द्वेष का अर्थ इर्ष्या, डाह, जलन आदि होता है। इसके होने से प्रतिहिंसा की भावना एवं क्रोध की उत्पत्ति होती है। द्वेष के साथ मोह होने के कारण ही ऐसा होता है। मोह वस्तु के सत्स्वरूप का आच्छादन करता है, इसलिए सत्यासत्य का विवेक उत्पन्न नहीं होता। इन्हीं तीन अकुशल मूलों से युक्त चेतना को पापचेतना कहते हैं)।

तीनों द्वारों से (कायद्वार, वचीद्वार, एवं मनोद्वार) पापचेतना के उत्पन्न होने पर दस अकुशल कर्मों की उत्पत्ति होती है ॥ ५४ ॥

हिंसा, स्तेय (चौर्य) और व्यभिचार (परदारागमन) ये तीन कायिक अकुशल कर्म हैं। असत्य भाषण, पैशून्य (चुगली), परूष वचन (कठोर वचन) तथा निरर्थक वचन (संप्फपलाप) ये चार वाचसिक अकुशल कर्म हैं ॥ ५५ ॥

लोभ, द्वेष तथा मोह या मिथ्यादृष्टि, मानसिक अकुशल कर्म हैं। इन दस अकुशल कर्म पथों में पड़े हुए मनुष्य को कुछ प्राप्त न होगा, ऐसा जानना चाहिए ॥ ५६ ॥

दस अकुशल कर्मपथ

हिंसा, चोरी, व्यभिचार (कायिक अकुशल कर्म) असत्यभाषण, पैशून्य, परूषवचन, संप्रलाप (वाचसिक अकुशल कर्म) लोभ, द्वेष, मोह (मानसिक अकुशल कर्म)

इन दस अकुशळ कर्मों को करने वाला प्राणी दुःशील, दुश्चरित्र एवं मूढ़ कहा जाता है।

परपरिग्गहभण्डो च परपरिग्गहसञ्ञिता ।
थेय्यादिस्वेकचित्तञ्च ठाना चावनमेव च ।
पयोगो चेति पञ्चङ्गमदिन्नं साहत्थिकम्मतं ॥ ६१ ॥

यथाधिप्पायमाणत्ति तथा तं सम्पटिच्छनं ।
पटिञ्ञं अविनासेत्वा तथा व करणम्पि च ॥ ६२ ॥

ठाना चावम्पयोगञ्च अपनेत्वान पञ्चसु ।
छळङ्गमाणत्तिया होति अदिन्नन्ति पदीपये ॥ ६३ ॥

परपरिग्गहितित्थी च परपरिग्गहसञ्ञिता ।
अतिकम्मनचित्तञ्च तथेवातिक्कमो पि च ।
एवम्परस्स दारेसु चतुरङ्गो अतिक्कमो ॥ ६४ ॥

लद्धिगूहनचित्तञ्च वाचा तदनुलोमिका ।
वचनत्थपटिवेधो च मुसावादो तिवङ्गिको ॥ ६५ ॥

पत्थेन्तस्स पियत्तम्पि भेदाधिप्पायकस्स च ।
भेदानुलोमिका वाचा पेसुञ्ञन्ति पकासिता ॥ ६६ ॥

परं खो भेतुकामस्स दुट्ठचित्तस्स जन्तुनो ।
अनिट्ठसावनं वुत्तं फरुसन्ति पजानता ॥ ६७ ॥

निरत्थिककथा या हि रागदोसाभिवड्ढनी ।
तं रत्तस्स अकालेन भासना सम्फसञ्ञिता ॥ ६८ ॥

लोभ, मोह के कारण चोरी, द्वेष, मोह के कारण हिंसा तथा मोह के कारण व्यभिचार आदि कायिक अकुशल कर्म होते हैं। लोभ, मोह के कारण असत्य भाषण, द्वेष, मोह के कारण परूषवचन तथा पैशून्य तथा शुद्ध मोह के कारण संप्रलाप ये चार वाचसिक अकुशल कर्म होते हैं। इसी प्रकार लोभ के कारण दंभ, काम के कारण व्यभिचार, तथा द्वेष के कारण क्रोध और क्रोध के कारण परूषवचन[1] होते हैं। ये दस अकुशल कर्म शुभ मार्ग से विरत करते हैं, ऐसा जानकर इनसे विरत रहना ही श्रेयस्कर है।

पाप चेतना से उत्पन्न हिंसादि कार्य कभी भी श्रेयस्कर नहीं है, ऐसा जानकर इनसे विरत रहने का सतत प्रयत्न करना चाहिए ॥ ५७ ॥

जीवित प्राणी, बधकचित्त, बध का उपक्रम तथा उससे जीवन का नाश, ये चार हिंसा कर्म के साथी हैं ॥ ५८ ॥

इसे अट्ठकथा मे प्राणी, प्राणातिपात, प्राणातिपाति तथा हिंसा के लिए उपक्रम या प्रयोग कहा गया है।

हिंसा (प्राणातिपात) के लिए अट्ठकथा में छ-प्रयोग बताये गये हैं, वे हैं– साहत्थिको, आणत्तिको, निस्सग्गियो, थावरो, विज्जामयो, इद्धिमयो।

स्वयं अपने से किसी की हत्या की जाय तो इसे **साहत्थिको** कहते हैं। दूसरे के आदेश से या आज्ञा से हिंसा की जाय तो इसे **आणत्तिको** कहते हैं। दूर स्थित होकर वाण, शक्ति, पाषाण आदि से स्वंय हिंसा कर दी जाय तो इसे **निस्सगियो** कहा जाता है। विष, भैषज्यादि देकर हिंसा करना **थावरो** कहा जाता है। विज्जामय- अर्थात् मारने के लिए मंत्र विद्या का प्रयोग करना (विज्जामय) मारणमन्त्र का जपना जिससे किसी की मृत्यु हो जाय।

इद्धिमय प्रयोग-अर्थात् ऋद्धिबल से हिंसा करना, यथा नाग भेजना, भूत-प्रेत के द्वारा मारना, देवता के द्वारा हिंसा आदि कराना[2] 'इद्धिमयो' प्रयोग है।

---

1. लोभ के इच्छा दंभ बल, काम के केवल नारि।
क्रोध के परूषवचन बल, मुनिवर कहहिं विचार ॥
तु. रा. पृ. ४३५।

2. इमस्स पनत्थस्स आविभावत्थं पाणो वेदितब्बो, पाणातिपातो वेदितब्बो, पाणातिपाति वेदितब्बो, पाणातिपातस्स पयोगो वेदितब्बो। तत्थ 'पाणो' ति वोहारतो सत्तो, परमत्थतो जीवितिन्द्रियं। जीवितिन्द्रियं हि अतिपातेन्तो "पाणमतिपातेती" ति वूच्चति तं वुत्तप्पकारमेव। "पाणातिपात" ति याय चेतनाय जीवितिन्द्रियुपच्छेदकं पयोगं समुट्ठापेति, सा वधक चेतना "पाणातिपाती" ति वुच्चति। "पाणातिपाती" ति वुत्तचेतनासमंङ्गिपुग्गलो दट्ठब्बो। "पाणातिपातस्स पयोगो" ति पाणातिपातस्स छप्पयोगा-साहत्थिको, आणत्तिको, निस्सग्गियो, थावरो, विज्जामयो, इद्धिमयो ति।

अञ्ञाय पत्थना या हि परोपकरणादिसु ।
लोभादिमत्ततो या हि अभिज्झाति पकासिता ॥ ६९ ॥

या सम्पदुट्ठचित्तस्स अनत्थाहितकामता ।
ब्यापादो ति समक्खातो अब्यापन्नेहि सब्बथा ॥ ७० ॥

अनत्ताभिनिवेसो यो नत्थि दिन्नन्ति आदिना ।
मिच्छादिट्ठी ति अक्खातो सम्मादिट्ठिविपक्खिको ॥ ७१ ॥

इमेसु खलु वत्थूसु निब्बत्ता कम्मसञ्ञिता ।
चेतनानिट्ठफलदा तं कथमिति चे वदे ॥ ७२ ॥

कम्मविपाकञाणं हि बुद्धञाणन्ति भासितं ।
न सुबुद्धन्तु अञ्ञेसं तदञ्ञो को हि ञस्सति ॥ ७३ ॥

वचनं अनुगन्त्वान तस्सेवादिच्चबन्धुनो ।
गरूपदेसं लद्धेन अनुमानेन वेदियं ॥ ७४ ॥

दस चापुञ्ञवत्थूनि यथा फलवसेन हि ।
पबलानि अपायेसु फलदानितरानि तु ॥ ७५ ॥

मनुस्सेसु हि जातस्स यथा बलवसेन च ।
यथा पच्चयतो वापि फलदानि कथन्ति चे ॥ ७६ ॥

हिंसा अप्पायुकत्तञ्च बव्हाबाधत्तनम्पि च ।
वियोगदुक्खबाहुल्यं जने तुब्बिग्गवासतं ॥ ७७ ॥

जिस अभिप्राय से आज्ञा दी गई है, उस अभिप्राय को जानकर तदनुरूप व्यापार करना, परप्रेरित हिंसा ही 'आणत्ति' है ॥ ५९ ॥

प्राणि-हिंसा के लिए छ अङ्गों से युक्त आणत्ति होती है। हिंसा के छः प्रयोगों में से आणत्ति एक है। अन्य को छोड़कर आणत्ति के साथ होने से हिंसा घटित होती है, यह जानना चाहिए ॥ ६० ॥

आणत्ति के छः अंग हैं–वस्तु, काल, आकाश, आयुध, इरियापथ तथा क्रियाविशेष। आणत्ति के बारे में समन्तपासादिका में विस्तार से वर्णन किया गया है।[1] मरने वाले प्राणी वस्तु हैं, पूर्वाह्ण, अपराह्ण आदि काल, यौवन बल उत्साह काल आदि को काल कहते हैं। ओकास या स्थान-ग्राम या नगर; गृहद्वार या गृहमध्य, संकरी गली या चौराहे को आकास समझना चाहिए। 'आयुध'-अर्थात् असि (खड्ग), वाण या शक्ति आदि, इरियापथ शरीर के कार्यों का नाम इरियापथ है। किरियाविशेष-अर्थात् बींधना, छेदना, भेदना आदि क्रियाविशेष कहे जाते हैं।

दूसरों की सम्पत्ति तथा वस्तु को चुरा लेने वाली चेतना से युक्त होने पर लोभ का प्राबल्य रहता है। अतः ऐसे समय में चित्त मे दान का अभाव है इसलिए लोभसहगत चित्त होने से दूसरों की सम्पत्ति एवं अन्य वस्तुओं को अपनी वस्तु समझता है. दूसरों की वस्तु को चुरा लेता है। बिना दिये हुए वस्तु को लेना चोरी है, ऐसी चोरी वृत्ति (चित्त) से युक्त होकर विहरना, यह वस्तु दूसरे की है यह जानते हुए भी चुरा लेता है। अतः आदियेय्य, हरेय्य, अवहरेय्य, इरियापथं विकोपेय्य, ठानाचावेय्य, सङ्केतं वीतिनामेय्य आदि कहा गया है।

चौर्य चित्त वाला व्यक्ति पर यह अभियोग लगता है कि यह चोर है। दूसरे की वस्तु को चुराकर जाते हुए, 'यह चोरी की वस्तु है, इसका डर लगा रहता है। दूसरे

तत्थ "साहत्थिको" ति सयं मारेन्तस्स कायेन वा कायप्पटिबद्धेन वा पहरणं। "आणत्तिको" ति अञ्ञं आणापेन्तस्स "एवं विज्झित्वा वा पहरित्वा वा मारेही" ति आणापनं। "निस्सग्गियो" ति दूरे ठितं मारेतुकामस्स कायेन वा कायपटिबद्धेन वा उसुसत्तियन्तपासाणादीनं निस्सज्जनं। "थावरो" ति असञ्चारिमेन उपकरणेन मारेतुकामस्स ओपातं अपस्सेनं उपनिक्खिपनं भेसज्जसंविधानं। समन्तपासादिका भा. २ पृ. ४३६।

1. आणापेती ति उद्दिस्स वा अनुद्दिस्स वा आणापेति। तत्थ परसेनाय पच्चुपट्ठिताय अनुद्दिस्सेव "एवं विज्झ, एवं पहर, एवं घातेही" ति आणत्ते यत्तके आणत्तो घातेति, तत्तका उभिन्नं पि पाणातिपाता। सचे तत्थ आणापकस्स मातापितरो होन्ति, अनन्तरियं पि फुसति।......उद्दिसित्वा पन "एतं दीघं रस्सं रत्तकञ्चुकं नीलकञ्चुकं.....विज्झा पहर घातेही" ति आणत्ते सचे सो तमेव घातेति, उभिन्नं पि पाणातिपातो, आनन्तरियवत्थुम्हि च आनन्तरियं। सचे अञ्ञं मारेति, आणापकस्स नत्थि पाणातिपातो। एतेन आणात्तिको पयोगो वुत्तो होति। स. पा. भा. २ पृ. ४४२।

दलिद्दियञ्च दीनत्तं आसाभङ्गञ्च दारुणं ।
अञ्ञायत्तप्पवत्तिञ्चादिन्नादायी लभे नरो ॥ ७८ ॥

सपत्तबहुलो होति सदा चापत्थितित्थिको ।
इत्थि वा पण्डको वापि परदार रतो नरो ॥ ७९ ॥

वाचनादुक्खखिन्नो च अभूतक्खाणताळितो ।
अस्सद्धियो सुदुग्गन्धमुखो होति मुसारतो ॥ ८० ॥

सुसम्बद्धापि तस्सीध मित्ता भिज्जन्त्यकारणा ।
पियसुञ्ञकरं यो हि पेसुञ्ञमकरी पुरा ॥ ८१ ॥

दिट्ठविद्देसनीयो चास्सवनीयखरस्सरो ।
होतीहाकतदोसोपि फरुसाभिरतो पुरा ॥ ८२ ॥

असम्बन्धङ्गपच्चङ्गो अनादेय्यवचो पि च ।
सम्फप्पलापं यो पुब्बे अवदि अप्पयोजनं ॥ ८३ ॥

यं यं इज्झति साधेतुं न तं तस्सेह इज्झति ।
अञ्ञायेनञ्ञ अत्थेसु यो भिज्झमकरी पुरा ॥ ८४ ॥

विरूपो होति अच्चन्तं विसमाबाधपीळितो ।
अप्पियो च मनुस्सानं यो ब्यापादरतो पुरा ॥ ८५ ॥

निहीनासुचिभोगेसु रतो मन्दो जळो पि च ।
दुट्ठरोगी कुदिट्ठी च मिच्छादिट्ठि सिया नरो ॥ ८६ ॥

की वस्तु को नहीं देने की प्रवृत्ति को अवहरेय्य, चुराने के लिए गमनागमन ही इरियापथ है।

पृथ्वी पर स्थित भाण्ड या वस्तु के लिए चौर्य चित्त से विचार करता है।

'सङ्केतं वीतिनामेय्या' शब्द का अर्थ है, परिकल्पित स्थान की ओर जाना उसके लिए अतिक्रमण करना।

संक्षेप में दूसरे की सम्पत्ति; दूसरे की सम्पत्ति को ले-लेने की चेतना, त्यागचित्त का अभाव, वस्तु का अपनयन तथा चौर्यकर्म के लिए उपक्रम या प्रयोग 'साहत्थिक चौर्य कर्म के पाँच अंग हैं'[1] ॥ ६१ ॥

जिस अभिप्राय से आज्ञा दी गयी है, उस अभिप्राय को जानकर तदनुरूप व्यापार करना ही, परप्रेरित चौर्य कर्म है ॥ ६२ ॥

पृथ्वी पर स्थित किसी वस्तु को देखकर चौर्य चित्त से युक्त होकर विचार करना, मन को चंचल करना, स्थानभ्रष्ट हो जाना (ठाना चावन) है। ठाना चावन और प्रयोग को छोड़कर पांच अङ्गों में से छ अंगों से युक्त आणत्ति होती है,[2] तभी चौर्य कर्म सम्पन्न होता है ॥ ६३ ॥

दूसरे की स्त्री, यह दूसरे की स्त्री है, इसकी चेतना (व्यभिचार चेतना) अतिक्रमण करने वाला चित्त और व्यभिचार, चार अंगों से युक्त परदार संगति को 'कामेसुमिच्छाचार' (कामिथ्याचार) कहा गया है ॥ ६४ ॥

प्राप्त वस्तु के निगूहन चित्त एवं तदनुकूल वचन तथा उसके अर्थ का प्रतिवेध, इन तीन अंगों से युक्त मृषावचन होता है ॥ ६५ ॥

यह उसका प्रिय है, यह जानते हुए उनमें भेद डालने के अभिप्राय से भेद डालने वाली बात को पिसुण वचन (पैशून्य) कहा गया है ॥ ६६ ॥

दूसरे को भयाक्रान्त करने की इच्छा से (द्वेष युक्त) प्रदुष्ट मन होकर, दूसरे को अनिष्ट लगने वाली कठोर वचन ही परूषवचन है ॥ ६७ ॥

राग, द्वेष को बढ़ानेवाली जो निरर्थक कथा है, उसमें लगे लोगों के द्वारा असामयिक बोला गया वचन प्रलाप या 'सम्फप्पलाप' है ॥ ६८ ॥

---

1. द्र. स. पा. भा. १ पृ. २९८, २९९ तथा पृ. ३६४, ३६५
   तु.–परपरिग्गहितं, परपरिग्गहितसञ्ञा, परिक्खारस्स
   गरुकभावो, थेय्यचित्तं, ठानाचावनंति। स. पा. भा. १ पृ. ३६५।
2. द्र. स. पा. भा. २ पृ. ३६५।

केचीध मज्जपानेन सह एकादसेति च ।
वदन्ति तं अनत्थत्थसेवनं लोभमोहजं ॥ ८७ ॥

उम्मत्तो खित्तचित्तो च नीचवुत्ति महाजळो ।
अवञ्ञातो च होतीध मज्जपायी पुरा नरो ॥ ८८ ॥

दलिद्दो मच्छरी होति बण्हाबाधी विहेठको ।
अप्पेसक्खो सदा होति यो इस्सामानको पुरा ॥ ८९ ॥

थद्धो वञ्ञातकुलजो जळो अपरिपुच्छको ।
कुक्कुरादिवताचिण्णो कुक्कुरादि-सहव्यतं ॥ ९० ॥

उपपज्जति इच्चेवमनन्तं पापजं फलं ।
वीमंसित्वान विञ्ञेय्यं सुत्तमग्गानुसारतो ॥ ९१ ॥

मयूरचन्दकस्सापि विचित्ता चित्तकम्मजा ।
तं तं तथेव विञ्ञाता सो व लोकग्गपुग्गलो ॥ ९२ ॥

पापा आसेविता येहि ते अपायेसु जायरे ।
न अक्खातेन पत्तब्बं तत्थ दुक्खमनोपमं ॥ ९३ ॥

येन येन पकारेन यं यं पापं कतं पुरा ।
तस्स तस्सानुरूपं व फलं होति असाहियं ॥ ९४ ॥

दुस्सहो दुब्बचो घोरो दुरन्तो दुरतिक्कमो ।
अक्खमो अतिदुक्खो ति अपायो भायितब्बको ॥ ९५ ॥

दूसरे के उपकरणों को जानकर लोभासक्त होना (अभिज्झा) लोभ है। ऐसा कहा गया है ॥ ६९ ॥

अनर्थ और अहित की इच्छा से द्वेषयुक्त मन से परविनाश चिन्ता व्यापाद है। द्वेषयुक्त चित्त से युक्त होना ही 'व्यापाद' है ॥ ७० ॥

अनात्म में अभिनिवेश, दानादि का कोई फल नहीं है, ऐसी विपरीत दृष्टि को मिथ्यादृष्टि कहते हैं, जो सम्यक् दृष्टि का विपक्ष है (विपरीत है) ॥ ७१ ॥

इन दस अकुशल कर्मों मे रत्त चेतना कितने अनिष्ट फल देने वाली है, इसे कौन कह सकता है ॥ ७२ ॥

कर्म एवं विपाक (कर्मफल, संस्कार) के ज्ञान को बुद्धज्ञान कहते हैं। दूसरों के लिए इसका ज्ञान होना कठिन है, इसलिए इसे दूसरा कौन जान सकता है, अर्थात् कर्म एवं विपाक का ज्ञान बुद्धज्ञान से ही हो सकता है, किसी दूसरे ज्ञान से नहीं ॥ ७३ ॥

उसी भगवान बुद्ध के वचन का अनुगमन करते हुए, अथवा यह भगवान का गौरवपूर्ण वचन है, इस अनुमान से इसे जानना चाहिए ॥ ७४ ॥

इन दस अकुशल कर्मों के अनुसार ही अनिष्ट फल होता है। जिसके कारण प्रबल अपाय (नरकादि योनियों) लोक में जाना पड़ता है, तथा अन्य भूमियों में भी जाना पड़ता है ॥ ७५ ॥

मनुष्य लोक मे इन दस अकुशल कर्मों के फलस्वरूप जो अनिष्ट फल होते हैं उनका वर्णन इस प्रकार किया गया है........ ॥ ७६ ॥

हिंसा करने वाला मनुष्य अल्पायु, रोगी, प्रियजन वियोगी तथा उद्विग्न मन वाला होता है ॥ ७७ ॥

अदिन्नादायी मनुष्य (चोर मनुष्य), दरिद्र, दीन, दारुण इच्छाभङ्ग की दुःखद स्थिति से युक्त, दूसरे पर आश्रित हो कर जीने वाला, पर निर्भर होता है ॥ ७८ ॥

दूसरे की स्त्री में आशक्त रहने वाला मनुष्य, अनेक शत्रुओं से घिरा होता है। तथा दूसरे जीवन में नपुंसक या स्त्री योनि में उत्पन्न होता है ॥ ७९ ॥

असत्य बोलने वाला मनुष्य, झूठ में रत रहने के कारण, वची दुःख से खिन्न रहता है, तथा वह श्रद्धा का पात्र नहीं होता साथ ही दुर्गन्धमुख होता है ॥ ८० ॥

लोभाधिकेन पापेन पेतलोकेसु जायरे ।
मोहाधिकेन तिरिये निरये दोसाधिकेन हि ॥ ९६ ॥

३. पेत-दुक्ख-वण्णना-गाथा

असंविभागसीला ये यथासत्ति यथाबलं ।
इस्सालुका मच्छरिनो ते पेतेसूपजायरे ॥ ९७ ॥

अज्जनादीनि दुक्खानि अनुभोत्वापि अज्जिता ।
अन्ते लोभाधिग्गहीता यदि पेतभवावहा ॥ ९८ ॥

अत्था-अत्थाति लोको हि किमत्थमभिजप्पति ।
आदिमज्झन्तभावेसु ये अनत्थावहा इमे ॥ ९९ ॥

सकम्मवारितन्नापा आहारत्थमतन्दिता ।
इतोचितो च पयता इति पेता ति सद्दिता ॥ १०० ॥

खुप्पिपासापरिस्सन्ता किसा थूलसिरा तथा ।
दिस्समानट्ठिसण्ठाना विरलन्तरफासुला ॥ १०१ ॥

पिट्ठिकण्टकमल्लीन-परिच्छातोदरत्तचा ।
अपक्कसुक्खलापूववल्लिता कुञ्चिता सता ॥ १०२ ॥

चतट्ठिन्हारुसेसङ्गा परिनिन्नक्खिगण्डका ।
दीघव्याकुलकेसेहि अन्धकारीकताननना ॥ १०३ ॥

परूळ्हकच्छनखलोमा लूखकण्हवलित्तचा ।
विरूपतेव एकत्थ पिण्डिता सब्बलोकिका ॥ १०४ ॥

जिसने पूर्वजन्म में पैशून्य (चुगली) किया है, उसके घनिष्ट मित्र से भी अकारण ही मित्रता टूट जाती है तथा प्रिय से शून्य होता है ॥ ८१ ॥

जिसने पूर्व में कठोर वचन का प्रयोग किया है, वह विद्वेष दृष्टिसम्पन्न होता है, उसके कटुभाषण अश्रवणीय होता है। दोष नहीं करने पर भी वह दोषी होता है ॥ ८२ ॥

सम्प्रलाप करने वाले मनुष्य के अङ्ग-प्रत्यङ्गो का सम्बन्ध ठीक नहीं होता तथा अनादर का पात्र होता है। जो पूर्व में निष्प्रयोजन अथवा प्रलापपूर्ण वचन से युक्त था ॥ ८३ ॥

जो व्यक्ति पहले पैशून्य के द्वारा एक दूसरे के अर्थ में विघ्न डाला था और अहित किया था, वह इस जन्म में जिन-जिन कार्यों को करना चाहता है, वे कार्य उसके पूरे नहीं होते ॥ ८४ ॥

जो व्यक्ति व्यापाद (द्वेष) से युक्त होता है, वह मनुष्यों का अप्रिय होता है। वह अत्यन्त कुरूप तथा विषम रोग से युक्त होता है ॥ ८५ ॥

मिथ्यादृष्टि से युक्त मनुष्य, अत्यन्त निकृष्ट भोग में सदैव रत रहता है तथा वह मन्द, जड़, दुष्ट रोगों से युक्त तथा गलत धारणाओं से युक्त होता है ॥ ८६ ॥

मद्यपान के साथ अकुशल कर्मों की संख्या ग्यारह हो जाती है, ऐसा कोई-कोई कहते हैं। मद्यपान का सेवन अनर्थकर होता है तथा लोभ एवं मोह अकुशल कर्मों के कारण ही मद्यपान किया जाता है ॥ ८७ ॥

जो व्यक्ति पूर्वजन्म में मद्यपायी था, वह इस जन्म में उन्मत्त, विक्षिप्त-चित्तवाला, नीचवृत्ति से युक्त, महाजड़, तथा उपेक्षित होता है ॥ ८८ ॥

पूर्वजन्म का कृपण (कंजूस) व्यक्ति इस जन्म में दरिद्र होता है, निन्दक अनेक रोगों से युक्त होता है इर्ष्यालु एवं अभिमानी तथा प्रभावहीन होता है ॥ ८९ ॥

कठोर, उपेक्षित कुल में उत्पन्न, मूढ़ अपमानित हो, श्वानवृत्ति से जीवन यापन करने वाला, श्वान (कुत्ता) आदि निम्न श्रेणी के साथ मैत्री रखने वाला होता है ॥ ९० ॥

पच्छानुतापदुक्खेन अच्चन्तपरिसोसिता ।
पच्चक्खतो अलक्खिया इति दिट्ठेहि लक्खिया ॥ १०५ ॥

अनच्छादितकोपीना अलद्धन्नलवोदका ।
जिघच्छापरिदाहेन परिस्सन्ता सयन्ति ते ॥ १०६ ॥

नेकवस्ससहस्सेसु तेसं आसाविवद्धनो ।
एहि भुञ्ज पिबाहीति सद्दो सूयति रित्तको ॥ १०७ ॥

असमत्थापि ते सब्बे अथोदनजलासया ।
महादुक्खेन वुट्ठन्ति अञ्ञोञ्ञमवलम्बिय ॥ १०८ ॥

उट्ठानतुरति पेता व्यठन्ता पतमानका ।
परिमोचेन्ति आलग्गे असमत्थतया तया ॥ १०९ ॥

पवेधमानं अबलं पबलो त्वं पलम्बसि ।
अहो निक्करुणोसि त्वं इति सामानि योजिय ॥ ११० ॥

उट्ठहित्वा पतन्ते ते जलच्छाया व चञ्चले ।
अलद्धपुब्बलोभासा उट्ठापेति पुनप्पुनं ॥ १११ ॥

अट्ठिसङ्घाटमत्तानं उट्ठानब्यसनं कथं ।
अनुस्सरन्तो धारेय्य जीवितं करुणापरो ॥ ११२ ॥

अज्ज अम्हेहि सद्दोयं यतो जातेहि सूयति ।
ओदनं उदकं चेति अस्ससिङ्गो व अब्भुतो ॥ ११३ ॥

इन अनन्त पाप (अकुशल) कर्मों के दुष्परिणामों के फलस्वरूप निम्नभूमि में उत्पन्न होता है। इन अकुशल फलों को सोंचकर जानने योग्य (निर्वाण) को जानने के लिए श्रुतमार्ग का अनुशरण करना चाहिए ॥ ९१ ॥

मयूर पंख की तरह चित्तकर्म भी अत्यन्त सुन्दर एवं विचित्र होता है। अतः चित्त के इस आकार को जानने वाला पुरुष लोक में अग्र होता है ॥ ९२ ॥

जिसने अकुशल कर्मों का आसेवन किया वे अपायभूमि में उत्पन्न होते हैं। उनके अनुपम दुःख को, जिसे वे पाते हैं, वचन के द्वारा नहीं कहा जा सकता ॥ ९३ ॥

जिस-जिस तरह से जो-जो पापकर्म पूर्व में किया गया है; उन-उन के अनुरूप ही असहनीय दुष्फल को अकेला भोगता है ॥ ९४ ॥

असहनीय, अकथनीय, अपायभूमि डरावना है। क्योंकि इसमें प्राणियों को अत्यन्त दुःख होता है, जो असहनीय है, जिसे सहन करना कठिन है, अकथनीय भयानक, तथा जिससे पार पाना कठिन है ॥ ९५ ॥

लोभजन्य अकुशल कर्मों के फलस्वरूप प्रेतलोक में उत्पन्न होता है। मोहजन्य कर्मों के फलस्वरूप तिर्यक् योनि में तथा द्वेषजन्य कर्मों के फलस्वरूप नरकलोक में उत्पन्न होता है ॥ ९६ ॥

दस अकुशलकर्मों के दुर्गुणों की गाथा समाप्त।

३. पेत-दुक्ख-वण्णना-गाथा

प्रेत-दुःख-वर्णन गाथा

जो प्राणी यथाशक्ति यथाबल कर्त्तव्याकर्त्तव्य का निर्धारण नहीं कर सकता तथा जो ईर्ष्यालु तथा मत्सरी हैं, वे प्रेतलोक में उत्पन्न होते हैं ॥ ९७ ॥

अर्जित दुःखों को भोगकर पुनः दुःख अर्जित करता है तथा अन्त में लोभ के वशीभूत हो प्रेतलोक की ओर अग्रसर होता है ॥ ९८ ॥

इस संसार में अर्थ-अर्थ किसलिए हमेशा जपता है। यह अर्थ तो आदि, मध्य और अन्त तक अनर्थ की ओर ले जाने वाला है ॥ ९९ ॥

इति ते पवदन्ता व पटिच्छन्ता व अञ्जलिं ।
अपस्सन्ता व दातारं धावन्ति दिसतोदिसं ॥ ११४ ॥

ततो मुहुत्तमत्तेन तेसं आयासकारको ।
कण्णे दड्ढसलाका व नत्थि सद्दोपि विज्झति ॥ ११५ ॥

किं न सोस्सन्ति ते पेता नत्थि सद्दं सुदारुणं ।
येहि सन्तेसु देय्येसु खित्ता नत्थीति याचका ॥ ११६ ॥

ते विसादपरिस्सन्ता सभावेनापि दुब्बला ।
पतन्ति तालछिन्ना व विच्छिन्नासा विसञ्ञिनो ॥ ११७ ॥

यं जिघच्छादुखं लोके एकाहच्छिन्नभत्ततो ।
दुस्सहं तञ्च पेतानं को दुक्खं चिन्तयिस्सति ॥ ११८ ॥

केसिञ्चि रोमकूपेहि जालामाला समुट्ठिता ।
दहन्ति सकलं देहं अग्गिजाला व सासयं ॥ ११९ ।

कुच्छिजिघच्छादाहेन बाहिरं देहजग्गिना ।
चित्तं पच्छानुतापेन पेतानं दय्हते सदा ॥ १२० ॥

विच्छद्दितं नुट्ठुभितं विजातानञ्च यम्मलं ।
यदञ्ञञ्चापि असुचि लोकेनातिजिगुच्छियं ॥ १२१ ॥

तदत्थञ्चापि ते पेता धावन्ता नेकयोजनं ।
अच्छिन्दित्वान अञ्ञोञ्ञं लभन्ति न लभन्ति च ॥ १२२ ॥

अपने कर्मों के कारण जल से विरहित, आहार के लिए आलस्य को छोड़कर इधर-उधर घूमकर प्रयास करने के कारण इसे प्रेत कहा जाता है ॥ १०० ॥

प्रेतयोनि पाकर वह भूख, प्यास से परिश्रान्त, दुर्बल तथा बड़ा सिर वाला, अस्थिकंकाल मात्र दिखायी पड़ने वाला तथा पतली पसली वाला होता है ॥ १०१ ॥

उसके रीढ़ की हड्डी सटी हुई तथा उदर के त्वचा से ढकी हुई होती है। अपक्व सूखी हुई लौकी की तरह लता से वेष्ठित सर्वदा मुड़ा हुआ होता है ॥ १०२ ॥

प्रेत योनि में त्वचा, अस्थि तथा नख अस्तव्यस्त रहते हैं। आँखे तथा गाल धँसी हुई, लम्बे तथा अस्तव्यस्त बाल तथा काला मुख होता है ॥ १०३ ॥

नख एवं काँख का बाल बढ़े हुए, रुखड़ा, काला एवं झुर्री पड़ी चमड़ी से युक्त ऐसा ज्ञात होता है कि सभी कुरूपता एक जगह एकत्रित हो ॥ १०४ ॥

पश्चाताप के दुःख से अत्यन्त परिश्रान्त (थका हुआ) प्रत्यक्षतः दिखायी नहीं पड़ने वाला, पर देखने से दिखायी पड़ता है ॥ १०५ ॥

वे अनाच्छादित कोपीन मात्र धारण किये हुए अन्नजल के बिना भूख की ज्वाला से जलते हुए परिश्रान्त हो कर सोते हैं ॥ १०६ ॥

अनेको सहस्त्र वर्षों तक उनकी आशा बढ़ती रहती है। इस प्रकार वे खाओ, पियो केवल शब्द मात्र ही सुनते हैं। उन्हें खान, पान प्राप्त नहीं होता ॥ १०७ ॥

भोजन एवं जल की आशा से वे सब प्रेत असमर्थ होने पर भी महद्दुःख के साथ एक दूसरे के सहारे से उठते हैं ॥ १०८ ॥

उठने के साथ ही वे प्रेत तुरन्त ही गिर जाते है। जिस तरह (आलग्ग) टँगना के कमजोर होने से उस पर टंगी हुई वस्तु भार से टूट कर गिर जाती है उसी प्रकार असमर्थ होने के कारण वे प्रेत उठते ही एक दूसरे को छोड़कर गिर जाते हैं ॥ १०९ ॥

डरा हुआ बलरहित हो कर यह कहता है कि तुम प्रबल हो, इसलिए सहारा दो। हा, तुम करुणा रहित हो, इस प्रकार प्रलाप करता है ॥ ११० ॥

वे जल में चंचल छाया के समान उठकर गिरते हैं। पूर्व से ही अप्राप्त वस्तु के लोभ की आशा उन्हें पुनः-पुनः उठाते हैं ॥ १११ ॥

छाया आतपतं यन्ति रित्ततञ्च महासरा ।
उण्हा च होन्ति पेतानं वाता पकतिसीतला ॥ १२३ ॥

फुसन्ति अग्गिजाला व सिसिरा चन्दरंसियो ।
सब्बं विपरिययं होति यं लोके साधुसम्मतं ॥ १२४ ॥

पेतलोकभवं दुक्खं अनन्तं सन्तजीविका ।
कथन्नु वण्णयन्तीह बिन्दुमत्तं व वण्णितं ॥ १२५ ॥

एवं खुधापरेतानं पेतानं दुक्खजीविनं ।
इच्छाविघातं दुक्खं किं नरकं नातिरिच्चति ॥ १२६ ॥

विदित्वा पेत्तिविसये दुक्खं लोभोपपादितं ।
लोभसत्तुविनासाय कतुस्साहो हि पञ्ञवा ॥ १२७ ॥

दानं सत्थं सहाया मे पटिग्गाहाति चिन्तिय ।
समंसमपि दीनानं ददेय्य अविसङ्कितो ॥ १२८ ॥

४. तिरच्छान-दुक्ख-वण्णना-गाथा

दुन्निग्गमे महादुक्खे तिब्बरागे महाभये ।
विधम्मसञ्ञे जायन्ति तिरच्छानेपि पापतो ॥ १२९ ॥

तिरियतो एव चिन्तेन्ति गच्छन्ति च सयन्ति च ।
तिरोगतिच्छा धम्मेसु तिरच्छाना ततो मता ॥ १३० ॥

तिरच्छजातिसङ्खाहि कतत्थेहि पि दुक्करा ।
तासु दुक्खं महत्तं को सकलं वण्णयिस्सति ॥ १३१ ॥

अस्थिकंकाल मात्र वे प्रेत दुर्भाग्य से युक्त होते हैं। उनकी उन्नति का कोई अवसर नहीं होता, वरन्, पूर्व के अन्न जल का अनुस्मरण कर जीवन को धारण किये रहते हैं। उनकी स्थिति अत्यन्त दयनीय होती है ॥ ११२ ॥

आज हमलोगों ने यस्मात् उत्पन्न इस शब्द को सुना है। ओदन है, जल है, पर यह अश्वश्रृंग की तरह प्राप्त नहीं हो सका। यह अत्यन्त अद्भुत है ॥ ११३ ॥

वे (प्रेत) इस प्रकार बोलते हुए अञ्जलि को छिपाये हुए देने वाले को नहीं देखते हुए एक दिशा से दूसरी दिशाओं में दौड़ते हैं ॥ ११४ ॥

क्षणभर में उसको कष्ट देनेवाले (दूत) दहकते लौह-सलाका से उनके कान में छेद करते हैं अथवा बींधते हैं, जिससे वे शब्द भी नहीं सुनते ॥ ११५ ॥

वे प्रेत क्या नहीं सुनेगें; कोई ऐसा कठिन शब्द नहीं है जो वे नहीं सुनते। जिसने दान सामग्री रहने पर भी याचकों को 'कुछ नहीं है' कहकर भगा दिया है, उन्हें प्रेत योनि में सभी प्रकार के शब्दों को सुनना पड़ता है। अतः प्रेतों को क्या-क्या न सुनना पड़ेगा ॥ ११६ ॥

वे प्रेत विषाद से परिश्रान्त, स्वभाव से ही दुर्बल छिन्न ताल की भाँति गिर जाते है, तथा आशाभङ्ग होने से मूर्च्छित हो जाते हैं ॥ ११७ ॥

जिसे एक शाम भी भोजन न प्राप्त हो तथा भूख के दुःख से दुःखी रहता है; उस प्रेत के दुःसह दुःख का अनुभव दूसरा कौन कर सकेगा। ॥ ११८ ॥

किन्हीं-किन्हीं प्रेतों की रोमावलियों से आग की लपट सम्पूर्ण शरीर को जलाते हैं; जैसे सूखे जलावन से अग्निज्वाला निकलती है ॥ ११९ ॥

भूख की ज्वाला के कारण शरीर को पोषण करने में असमर्थ प्रेतों का चित्त पश्चाताप से सर्वदा जलता रहता है ॥ १२० ॥

लोक में अतिघृणित, अशुद्ध घुने हुए, थूके हुए, प्रसवमल में पड़े हुए तथा अन्य अत्यन्त घृणित पदार्थ है ॥ १२१ ॥

उसके लिए भी वे प्रेत अनेक योजन तक दौड़ते रहते हैं तथा कुछ प्राप्त हो या न हो एक दूसरे को आपस में लूटते रहते हैं ॥ १२२ ॥

प्रेतों के लिए छाया भी गर्म होती है। महातालाव भी रिक्त हो जाता है तथा प्राकृततः शीतल हवा भी उष्ण हो जाती है ॥ १२३ ॥

पूतिमच्छे वणेवापि तथा चन्दनिकाय वा ।
कुठितासुचिदुग्गन्धफेनिले समले हि वा ॥ १३२ ॥

केचि सत्ता विजायन्ति जायन्ति विचरन्ति च ।
खादन्ति कामं सेवन्ति सयन्ति च मियन्ति च ॥ १३३ ॥

अथो इमस्मिं देहे पि सकलासुचि-आकरे ।
असीतिकुलमत्तानि किमीनं नियतानि हि ॥ १३४ ॥

तेसं सपुत्तनत्तानं यतो सूतिघरोप्ययं ।
पवुड्ढि कलहट्ठानं चङ्कमो सयनीघरो ॥ १३५ ॥

खादनीयम्मलट्ठानं रोगभोगादिभूमि च ।
देहविच्छड्डनट्ठानं सुसानं च इदं यतो ।
ततो देहे विरज्जन्ति न रज्जन्ति विपस्सिनो ॥ १३६ ॥

अच्चन्तासुचिजातानं अमेज्झाहारभोजनं ।
चिन्तापुच्छड्डनकरी किमु तज्जातिदस्सनं ॥ १३७ ॥

जाता खलु तिरच्छाने थलजज्जलजा पि वा ।
अञ्ञोञ्ञम्पि भीता व सयन्ति विचरन्ति च ॥ १३८ ॥

वाललोमनखन्हारुमंससिङ्गट्ठिकादिनं ।
कारणा केचि निद्दोसा मरीयन्ति अनेकधा ॥ १३९ ॥

चम्मुप्पाटनदुक्खेन फन्दन्ता गावि-आदयो ।
यं दुक्खमधिगच्छन्ति का नु तस्सोपमा सिया ॥ १४० ॥

शिशिर ऋतु के चन्द्रकिरण उनके लिए अग्निशिखा के समान होता है। इतना ही नहीं वरन् जो लोक में सज्जन समर्थित वस्तुएँ हैं वे सभी उनके लिए विपरीत हो जाती हैं ॥ १२४ ॥

प्रेतलोक में होने वाले दुःखों का अन्त नहीं है। प्रेतों के श्रान्त जीवन को तथा उनके जीविका सम्बन्धी कठिनाइयों को इस संसार में कैसे वर्णन किया जाय। यहां केवल प्रेतदुःखों का विन्दुमात्र ही वर्णन किया गया है ॥ १२५ ॥

इस प्रकार भूख प्यास से युक्त प्रेतों के दुःखी जीवन तथा इच्छाविनाश से उत्पन्न दुःख नरक में भी नहीं छूटता है ॥ १२६ ॥

लोभोपपादित (लोभ के कारण उत्पन्न) प्रेतलोक के दुःख को जानकर प्रज्ञावान मनुष्य लोभशत्रु के विनाश के लिए उत्साहित हों ॥ १२७ ॥

दान को साथ देने वाला तथा प्रत्युपकार करने वाला मित्र समझकर निकट आये दीनजनों को बिना संकोच निर्भय होकर निरन्तर दान देते रहें ॥ १२८ ॥

४. तिरच्छान-दुक्ख-वण्णना-गाथा

तिर्यक् योनियों के दुःख वर्णन गाथा।

धर्मचेतनारहित विधर्मी प्राणी पापकर्मों के फलस्वरूप दुर्गम, तीव्र-आसक्तियुक्त, भयावह तिर्यक्-योनि में उत्पन्न होते हैं ॥ १२९ ॥

तिरछे चिन्तन करते हैं, तिरछे जाते हैं, तिरछे सोते हैं, धर्म में तिरछी गति की इच्छा रखते हैं, इसलिए इन्हें 'तिरच्छान' (तिर्यक्) कहा जाता है ॥ १३० ॥

तिर्यक् योनि में जन्मलेने वालों की संख्या कितनी है यह कहना कठिन है। अतः उनके महान दुःख को पूर्णतया कौन वर्णन कर सकेगा। (अर्थात् उनके उस कठिन दुःख का वर्णन नहीं किया जा सकता) ॥ १३१ ॥

सड़ी मछलियों में, जख्म में तथा नावदान (गन्दगी से भरे गड्ढे) में, कुष्ट में अशुद्ध और दुर्गन्धयुक्त स्थल में तथा मलमूत्र में ॥ १३२ ॥

कोई-कोई प्राणी जन्म लेते हैं, भ्रमण करते हैं उसी में खाते हैं; उसी में काम का सेवन करते हैं, उसी वातावरण में सोते हैं तथा उसी में मरते हैं ॥ १३३ ॥

विज्झित्वा अक्खियुगलं विलम्बित्वा अवंसिरा ।
नियन्ता मारणत्थाय दुक्खं पप्पोन्ति अण्डजा ॥ १४१ ॥

सजीवा व जले उण्हे खिपित्वा पच्चमानका ।
यं दुक्खमधिगच्छन्ति तं को खलु मिनिस्सति ॥ १४२ ॥

अदिट्ठपुब्बत्थलका अविच्छिन्नोदके रता ।
निद्दयेहि मनुस्सेहि सजीवा व समुद्धटा ॥ १४३ ॥

निहिता लुख-पंसुम्हि पासानेन समुत्थटा ।
समुद्दितापातुरिता खुप्पिपासाबलाहटा ॥ १४४ ॥

करुणं परिकुजन्ता समातापितुबन्धवा ।
अलद्ध-परिवत्तन्ता अनन्तरितवेदना ॥ १४५ ॥

यं दुक्खमधिगच्छन्ति निद्दोसा सङ्खसिप्पिका ।
तेसं दुक्खलवंसम्पि नाहं सक्कोमि दीपितुं ॥ १४६ ॥

वहन्ति अवसा केचि दण्डंकुसकसाहता ।
पतोदपण्हिपानीहि बहुसो परितज्जिता ॥ १४७ ॥

बद्धानेकेहि रज्जूहि अलद्धछन्दचारिनो ।
पबला दुब्बले सत्ते सकम्मपरिनामिता ॥ १४८ ॥

येसं सब्बं परायत्तं छन्दचारो न विज्जति ।
तेसं दुक्खस्स परियन्तं तदञ्ञो को हि अस्सति ॥ १४९ ॥

इस प्रकार अशुद्ध वातावरण में उत्पन्न होने के फलस्वरूप सम्पूर्ण अपवित्रताओं से युक्त इस शरीर में भी अस्सी प्रकार के कीट (कीड़े) योनियों की स्थिति निर्धारित है ॥ १३४ ॥

प्रसूति गृह से ही अनेक संख्याओं से युक्त इन कीड़ों के पुत्र पौत्रादि की बृद्धि हो जाती है जिससे ये शयनस्थान में या भ्रमणस्थान में आपस में कलह करते रहते हैं ॥ १३५ ॥

ये सब अत्यन्त गन्दे एवं घृणित स्थान में रहते हैं तथा खाते जो रोग एवं भोग की भूमि है। मृतशरीर को छोड़ने के स्थान होने से इसे श्मशान कहा जाता है। इसीलिए ज्ञानीजन शरीर से विरक्त होते हैं, अनुरक्त नहीं होते ॥ १३६ ॥

अत्यन्त अशुद्ध स्थान में उत्पन्न तथा अत्यन्त अपवित्र शुक्र आदि का भक्षण करने वाले, पूछ वाले कीड़े जो मलमूत्रादि में उत्पन्न होते हैं उनके अनेक जातियों को देखना भी कठिन है ॥ १३७ ॥

तिर्यक् योनि में, स्थल में उत्पन्न तथा जल में उत्पन्न, दोनों प्रकार के प्राणी होते हैं इसलिए वे एक दूसरे से डरे हुए सोते है और डरते हुए विचरण करते हैं ॥ १३८ ॥

वाल, रोएँ, नख, न्हारू, मांस, सिंग, अस्थि आदि के कारण कोई-कोई नर्दोष होने पर भी वहुधा मरते हैं अथवा मारे जाते हैं ॥ १३९ ॥

चर्मोत्पाटनजन्य दुःख से छटपटाते हुए गौ आदि पशुओं को जो दुःखानुभूति होती है, उस दुःख की तुलना किसी अन्य दुःख से नहीं की जा सकती। अर्थात् वह दुःख अनुपमेय है ॥ १४० ॥

शिकारी द्वारा दोनों आँखों को बींधकर तथा उल्टे शिर लटकाकर मारने के लिए ले जाते हुए अण्डे से उत्पन्न प्राणी (पक्षी आदि) दुःख को प्राप्त करते हैं ॥ १४१ ॥

गरम पानी में डालकर पकाये जाने वाले जीवित प्राणी (पक्षी आदि) जिस कष्ट का अनुभव करते हैं, उस दुःख की कल्पना कौन कर सकेगा (अर्थात् कोई नहीं) ॥ १४२ ॥

केचि युत्ता रथधुरे नङ्गले सकटे हि वा ।
वहन्ति वणितक्खन्दा तज्जिता अतिभारियं ॥ १५० ॥

नाहं सक्कोमि वहितुं उण्हो छातो पिपासितो ।
भारियं ति च वत्तुम्पि येसं सत्ति न विज्जति ॥ १५१ ॥

तेसं आरोपयित्वान अविसय्हं महाभरं ।
असमत्थे ठिते दीमे ताळयन्ति पुनप्पुनं ॥ १५२ ॥

कड्ढन्ति नासारज्जूहि वालं निब्बेठयन्ति च ।
निब्बिज्झन्ति पतोदेहि पण्हीहि पहरन्ति च ॥ १५३ ॥

दहन्ति वालमूलंसपिट्ठिपस्सोदरादिसु ।
कण्णे छिन्दन्ति तज्जन्ति विलिक्खन्ति च सब्बसो ॥ १५४ ॥

ते भीता उट्ठहन्ता च पतन्ता असमत्थतो ।
यं दुक्खमधिगच्छन्ति को नु तं दीपयिस्सति ॥ १५५ ॥

तिरच्छानेसु लोकेन देवतासाति सम्मता ।
रसग्गस्सोपदानेन माता व परिपोसिता ॥ १५६ ॥

मनुञ्ञा मङ्गला पुञ्ञा सुद्धिदाति च सञ्ञिता ।
तासम्पि दुक्खमतुलं तत्थ अञ्ञेसु का कथा ॥ १५७ ॥

पादे खानुसु बन्धित्वा कत्वा अग्गिं समन्ततो ।
तसिते पुन पायेत्वा दुप्पेय्यं लवणोदकं ॥ १५८ ॥

बराबर जल में रहने वाले जीव, जिसने पूर्व में कभी स्थल को नहीं देखा है, ऐसे प्राणी जीते ही निर्दय, दयाहीन मुष्यों के द्वारा जल से बाहर किये जाते हैं या पकड़े जाते हैं। जलचर जीव (मछुआरे) आदि के द्वारा पकड़े जाते हैं ॥ १४३ ॥

रुखड़े धूल में रखे गये, या पत्थर से दवा दिये गये जलीय जीव, जल से शीघ्र बाहर निकाल दिये जाने के कारण भूख एवं प्यास से अत्यन्त दुःखी होते हैं ॥ १४४ ॥

वह अब नहीं प्राप्त होगा, वह अब लौटकर नहीं आयगा, ऐसा सोचकर उसके माता-पिता, भाई-बन्धुओं के साथ अपने अन्दर समाप्त नहीं होने वाली वेदना से युक्त होकर करुण क्रन्दन करते हैं ॥ १४५ ॥

निर्दोष सङ्ख, सीप आदि जिस दुःख को प्राप्त करते हैं, उनके उस दुःख के अंश मात्र को भी मै नहीं दिखा सकता हूँ। अर्थात् वे अत्यन्त दुःख का अनुभव करते हैं ॥ १४६ ॥

कुछ जन्तु विशेष (बैल, हाथी, घोड़े) आदि डंडे, अंकुश एवं चाबुक से पीटे जाने के कारण लाचार हो कर चलते हैं तथा अनेको लाठी, लात एवं हाथों के प्रहार से भयभीत किये जाते हैं अथवा परेशान किये जाते हैं ॥ १४७ ॥

अपने अकुशल कर्मों के फलस्वरूप दुर्बल प्राणी अनेक कठोर (मजबूत) रस्सों से बाँधे जाते हैं, जिसके कारण वे स्वच्छन्द विचरण को प्राप्त नहीं करते ॥ १४८ ॥

जो सभी प्रकार से पराधीन है, जो स्वतन्त्र विचरण नहीं कर सकते हैं, उनके दुःख को उनसे भिन्न दूसरा भला कौन अनुभव कर सकेगा ॥ १४९ ॥

कोई-कोई रथ में, हल में तथा गाड़ी में जोते जाते हैं। जिसके कारण जख्मी स्कन्धों से युक्त हो जाते है तथा भय के कारण अत्यन्त भारी बोझ को भी ढोते हैं। अथवा अत्यन्त भारी बोझ के भार को ले जाते हैं ॥ १५० ॥

गर्मी, भूख तथा प्यासा होने के कारण मैं चलने में असमर्थ हूँ भार वहन की शक्ति भी नहीं है ॥ १५१ ॥

उनपर अत्यन्त भारयुक्त वस्तु को लादते हैं, जो उनके लिए असह्य होता है; असमर्थता के कारण यदि वे लाचार होकर ठहर जाते हैं तो बारम्बार उनको मारते हैं ॥ १५२ ॥

विरित्ते पुन पायेत्वा सुदुक्खं कटुकोदकं ।
महादण्डेहि नेकेहि आकोटेत्वान निद्दयं ॥ १५९ ॥

जीवदाहं विदय्हन्ता यवने गवि आदयो ।
महादाहपरिस्सन्तो पस्सन्तो पापजं फलं ॥ १६० ॥

विस्सरं विरवन्ता'व निस्ससन्ता'व आयतं ।
मिलातदीनवदना उदिक्खन्ता इतो ततो ॥ १६१ ॥

यं दुक्खमनुभोन्तीह सवणेपि असाहियं ।
तं दुक्खं चिन्तयन्तस्स हदयं फलतीव मे ॥ १६२ ॥

या हि बालत्तने नाम सब्बलोकानुकम्पिये ।
अनुकम्पा विपन्ना'व सा तिरच्छानजातियं ।
तं कथं इति चे विञ्ञू वदे विसदमत्थतो ॥ १६३ ॥

असहन्ता वियोगन्तु मुहुत्तम्पि च मातुया ।
पिल्लका अतिमन्दत्ता अनाथा सयिता तहिं ॥ १६४ ॥

कथं न दिस्सते अम्ब तदा पातो व निग्गता ।
किन्नु मे पिल्लका अत्थि इति चिन्ता पि नत्थि वा ॥१६५ ॥

इति चिन्तापरा हुत्वा कुजन्ता दीनलोचना ।
उदिक्खन्ता गतदिसं उस्सिङ्घन्ता दिसोदिसं ॥ १६६ ॥

दिस्वा'व मातरं सायं गोचरातो समागतं ।
पहट्ठा पटिधावन्ति पामुज्जुब्बिल्लभावतो ॥ १६७ ॥

नाक की डोरी (नाथ) पकड़कर खींचते हैं; तथा बाल उधेड़ते हैं। बींधते हैं तथा डंडे, लाठी एवं लात से प्रहार करते हैं ॥ १५३ ॥

वालमूल, कन्धे, पीठ के अगल-बगल तथा उदर आदि को जलाते हैं (अंकुसादि से साँढ़ को दागा जाता है)। कान छेदते हैं, अनेकों प्रकार के कष्ट देते हैं तथा सम्पूर्ण शरीर को खुरचते हैं ॥ १५४ ॥

वे भय के कारण उठते हैं, भय के कारण गिरते हैं तथा असमर्थ हो जिस दुःख को प्राप्त करते हैं, उस दुःख को कौन बतायगा? अर्थात् उसके उस दुःख का वर्णन करना कठिन है ॥ १५५ ॥

माता की तरह परिपालित एवं पोषित सुखसम्मत देवता भी लोक में रस के ग्रहण से (रस में लिप्त होने से) तिर्यक् योनि में दुःख को प्राप्त करते हैं ॥ १५६ ॥

मनोज्ञ (सुन्दर), मङ्गलयुक्त, पुण्यवान तथा शुद्धि प्रदान करने की संज्ञा से युक्त प्राणियों को भी तिर्यक् योनि में अपार दुःख प्राप्त होता है, तो दूसरों के बारे मे क्या कहना ॥ १५७ ॥

स्तम्भ (खूँटे) में पैर बांधकर चारों ओर से आग जलाकर, तृषित होने पर दुष्पेय्य खारा जल पिलाकर अत्यन्त दुःख देता है ॥ १५८ ॥

विरेचन (उल्टी) होने पर पुनः कटुकोदक (खारा जल) पिलाता है। अनेको डंडे से निर्दय होकर पीटता है जिससे अत्यन्त दुःख पाता है ॥ १५९ ॥

दावाग्नि से घिरा हुआ जंगल में जैसे गौ आदि पशु जीवदाह से जलते और छटपटाते हुए, महादाह जनित परिश्रान्त (थका हुआ) अपने पापकर्म से उत्पन्न फल को देखते हुए चिल्लाते, रोते और लम्बी साँस लेते हुए तथा जोरों से रोते हुए, मुर्झाये उदास चेहरे वाले (पशु-पक्षी) त्राण पाने के लिए इधर-उधर देखते हुए जिस दुःख को यहाँ इस तिर्यक् योनि में अनुभव करते हैं, वह सुनने में असह्य है। उस दुःख को चिन्तन करने मात्र से मेंरा हृदय फटता हुआ जैसा प्रतीत होता है ॥ १६०,१६१,१६२ ॥

जो अपनी मूर्खता के कारण सभी लोकों के द्वारा दया का पात्र है, ऐसे मूर्ख प्राणी तिर्यक् योनि में अनुकम्पा विहीन होते हैं। यदि विज्ञजन तिर्यक् योनि के कष्टों को जान लें ते उसके बारे में विस्तार बता सकते हैं ॥ १६३ ॥

विस्सत्थे मातुपेमेन विलङ्घन्ते समन्ततो ।
लालन्ते कण्णपुच्छे पि सलिळोपगते च ते ॥ १६८ ॥

छाते याते थनं पातुं मातानोति सिनेहतो ।
तरुणे तरुणक्खीहि चञ्चलेहि उदिक्खिता ॥ १६९ ॥

छड्डेत्वा पुत्तपेमञ्च अधिट्ठाय च रुद्दतं ।
तं खणेनेव अञ्ञाव जाता माता पि पुत्तके ॥ १७० ॥

विरवन्तेव करुणं फन्दन्ते यदि खादति ।
इतो परं किं वत्तब्बं भयं तिरियसम्भवं ॥ १७१ ॥

यत्थागच्छति पुत्तानं मातुतो पि महाभयं ।
यत्थ नत्थी ति विस्सम्भो लज्जाधम्मसती पि वा ।
अकत्तब्बन्ति वा तम्हा कथं निग्गमनं सिया ॥ १७२ ॥

अयम्पि दुन्निग्गमनो निच्चुब्बेगो महादुखो ।
अञ्ञोञ्ञभक्खो असिवो महोजालावगुण्ठितो ॥ १७३ ॥

सब्बानत्थसमवायो तिरच्छानोति सञ्ञितो ।
संसारे संसरन्तानं सक्किलेसान निच्छया ॥ १७४ ॥

सिया अदिट्ठसच्चानं इति संविग्गमानसो ।
सच्चाभिसमयत्थाय परक्कमति पण्डितो ॥ १७५ ॥

एक क्षण भी माता के वियोग को न सहते हुए पिल्लों (छोटे बच्चों) की तरह अतिमन्दता के कारण अनाथ की तरह वहीं सोते हैं ॥ १६४ ॥

प्रातः काल से निकली हुई हे अम्ब, हे माता तुझे क्यों नहीं यह दिखलाई पड़ता है कि मेरा पिल्ला कैसा होगा इसकी चिन्ता भी तुम्हें नहीं है॥ १६५ ॥

इस प्रकार चिन्ताकुल हो, उदास हो रोता हुआ, जिस दिशा में माता गई है, उस दिशा को देखता हुआ तथा सभी दिशाओं को सूँघता हुआ ॥ १६६ ॥

सायंकाल चारागाह से लौटी हुई माता को देखते ही, प्रसन्नता के उद्वेग पुलकित होकर दौड़ते हैं ॥ १६७ ॥

माता के प्रेम से विश्वस्त होकर, इधर-उधर उछलते कूदते हुए, कान, पूंछ हिलाते हुए तथा जल से भींगे हुए उन्हें प्यार करती है ॥ १६८ ॥

माता के प्यार से युक्त बच्चा भूखे होने पर स्तन पान के लिए तरुण आँखों से एवं चञ्चल आँखों से इधर-उधर देखता है ॥ १६९ ॥

पुत्र प्रेम को छोड़कर तथा रोते छोड़कर उसकी माता उसी क्षण अन्य की भाँति चली जाती है ॥ १७० ॥

करुण स्वर से रोते और छटपटाते हुए यदि खाता है तो तिर्यक् योनि से उत्पन्न भय के बारे में इससे अधिक क्या कहा जा सकता है ॥ १७१ ॥

माता से भी पुत्रों को जहाँ महाभय आता हो (होता है), जहाँ न विश्वास, न लज्जा, न धर्म, और न स्मृति है, और जहाँ कर्त्तव्य कर्म का ज्ञान नहीं है, उसके बारे में कुछ कहना कठिन है, तथा वहाँ से निकलना भी कठिन है ॥ १७२ ॥

इस तिर्यक योनि से निकलना कठिन है। नित्य उद्वेग से युक्त है, महादुःख है। जहाँ एक दूसरे को खानेवाले हैं, अशुभ और अकल्याणकर, मोहजाल से जकड़े है ॥ १७३ ॥

सभी अनर्थों के समूह, सभी क्लेशों से युक्त संसार में निश्चित रूप से संसरण करने वाले को तिर्यक् योनि की संज्ञा दी जाती है ॥ १७४ ॥

यदि वह सत्य को नहीं देखता है, तो उद्विग्न मन वाले पण्डित व्यक्ति सत्य का साक्षात्कार के लिए पराक्रम या यत्न करता है ॥ १७५ ॥

५. पापादीनव गाथा

अधिमत्तानि पापानि अविसङ्का चरन्ति ये ।
निरये ते महाघोरे उप्पज्जन्ति असंसयं ॥ १७६ ॥

सुखं अयो ति सङ्खातं यहिं सो नोपलब्भति ।
निग्गतायो ति निरयो इति वुत्तो तदव्भूहि ॥ १७७ ॥

चतुक्कण्णो चतुद्वारो विभत्तो भागसोमितो ।
अयोपाकारपरियन्तो अयसा पटिकुज्जितो ॥ १७८ ॥

तस्स अयोमया भूमि जलिता तेजसा युता ।
समन्ता योजनसतं फुटा तिट्ठति सब्बदा ॥ १७९ ॥

कतपापो पि यं दुक्खं घनजालनिरन्तरे ।
जलमानङ्गपच्चङ्गो अनुभोति अवीचियं ॥ १८० ॥

विस्सरं विरवन्तो व धावन्तो च इतो ततो ।
तस्सेकदेसमत्तम्पि को समत्थो विभावितुं ॥ १८१ ॥

यस्सायोमयमोनद्धं कपालं बहलम्पि च ।
अन्तो अग्गिजवादित्तं अनन्तं अण्णवोदकं ॥ १८२ ॥

चतुद्दिसातो पक्खन्तं खणेन यदि सुस्सति ।
तस्सन्तो वत्तमानस्स सुखुमालसरीरिनो ॥ १८३ ॥

५. पापादीनव गाथा
पाप के दुष्परिणाम की गाथा

पापकर्मों की अधिकता होने पर भी जो निर्भय होकर विचरण करते हैं वे निश्चय ही महाभयानक नरक में उत्पन्न होते हैं ॥ १७६ ॥

'अय' शब्द का अर्थ सुख होता है। अर्थात् उस 'अय' संख्यात जो सुख है, उस सुख की प्राप्ति जहाँ नहीं होती उसे ही निरय[1] (नरक) कहते हैं ॥ १७७ ॥

जो कुशल कर्मों को बढ़ाता है अथवा जिसका आस्वादन किया जा सकता है, वह 'अय' है, और जिस भूमि में 'अय' (सुख) नहीं है, उसे निरय कहते हैं।[2]

इनके चार प्राकार एवं चार द्वार हैं। ये जितने लम्बे हैं उतने ही चौड़े हैं। अर्थात् यह बराबर भागों में विभक्त है। इनके चारों ओर लौह प्राकार परिक्षिप्त है। इनकी छत्त भी लोहे की है ॥ १७८ ॥

इनकी भूमि प्रज्वलित एंव तेजोयुक्त लोहे की है। यह अनेक शत योजन तक दीर्घ ज्वालाओं से सर्वदा व्याप्त रहता है[3] ॥ १७९ ॥

सत्त्व द्वारा किये गये पापों का दुःख तथा ज्वाला जहाँ निरन्तर प्रवर्तमान रहते हैं[4], ऐसे अवीचि नरक में प्राणी अपने अङ्ग प्रत्यङ्गों को जलते हुए अनुभव करता है ॥ १८० ॥

---

1. 'अयतो सुखतो निग्गतो ति निरयो।' विभा. पृ. १२३ ।
'सुखसञ्ञातो अयो एत्थ नत्थी ति 'निरयो' । अट्ठ. पृ. ३०७ । नत्थि एत्थ अस्सादसञ्ञितो अयो ति 'निरयो' । विसु. पृ. २९७ ।
2. 'अयतो सुखतो निग्गतो ति निरयो।' विभा. पृ. १२३ ।
'सुखसञ्ञातो अयो एत्थ नत्थी ति 'निरयो' । अट्ठ. पृ. ३०७ । नत्थि एत्थ अस्सादसञ्ञितो अयो ति 'निरयो' । विसु. पृ. २९७ ।
3. जातक द्वि. भा. पृ. ६५ ।
म. नि. तृ. भा. २५५ ।
अं नि. प्र. भा. पृ. १३१ ।
4. 'अवीचिनिरयं ति वा अग्गिजालानं वा सत्तानं वा दुक्खवेदनाय वीचि, अन्तरं, छिद्दं एत्थ नत्थी ति अवीचि ।' अट्ठ. पृ. ३०७ ।
'न विद्यते वीचिः सुखं यत्र ।' अ. को. वि., पृ. ५३ ।
द्र-अभि. को., आ. न. दे. पृ. ३७२ ।

विलीयमानगत्तस्स आतुरस्स विफन्दतो ।
खलन्तस्स पतन्तस्स मुच्छन्तस्स मुहुं मुहुं ।
आसाभङ्गाभितुन्नस्स आयासेन विकम्पतो ॥ १८५ ॥

विलपन्तस्स करुणं अनाथस्स विचिन्ततो ।
असय्हं अतुलं तिब्बं को दुक्खं वण्णयिस्सति ॥ १८५ ॥

सिम्बलिं आयसत्थूलं सोळसङ्गुलकण्टकं ।
जालमालापरिक्खित्तं उद्धं योजनमुग्गतं ॥ १८६ ॥

चण्डेहि यमदूतेहि दण्डीयन्तो पुनप्पुनं ।
विद्धो पतोदयट्ठीहि सत्तियादीहि चाहतो ॥ १८७ ॥

विफालितङ्गपच्चङ्गो विरवन्तो'व विस्सरं ।
भीतो रुदम्मुखो दीनो आरुहन्तो पुनप्पुनं ॥ १८८ ॥

उब्बत्तेत्वान तु मुखं उदिक्खन्तो'व रक्खसे ।
भयेन विनिमीलेन्तो अङ्गमङ्गे व गूहयं ॥ १८९ ॥

अलद्धा लीयनट्ठानं वेधमानो विचेतनो ।
अनुभोति हि यं दुक्खं तस्स का उपमा सिया ॥ १९० ॥

एकन्तदुक्खा निरया यतो एवं सुदारुणा ।
न अक्खाणेन पत्तब्बमिति तस्मा जिनो ब्रवि ॥ १९१ ॥

यथा हि अन्तरं दूरं अग्गिनो चन्दनस्स च ।
तथेव अन्तरं दूरं निरयग्गि इधग्गिनं ॥ १९२ ॥

अवीचि नरक में पड़ा सत्त्व दुःखी एवं कातर स्वर में चिल्लाते हुए इधर उधर दौड़ते हैं। उनके उस महान् दुःख का एक भाग का भी वर्णन करने में कौन समर्थ है? अर्थात् उनके उस दुःख का वर्णन करने में कोई समर्थ नहीं है ॥ १८१ ॥

मोटे लौहमय खोपड़ी (अर्थात् छत्त) से जो ढका है; अन्दर तेज अग्नि प्रज्वलित है। ऐसे अनन्त अग्नि के समुद्र में पड़ा पापी चारो दिशाओं में छटपटाता है ॥ १८२ ॥

तृषित (पिपासित) होने के कारण उसका सुकुमार शरीर क्षण भर में ही टूट जाता है ॥ १८३ ॥

नष्ट होते हुए गात्रवाले दुःखी, छटपटाते, पतित और बार-बार मूर्च्छित होते हुए निराश, हतप्रभ, कष्ट में पड़ा नारकीय प्राणी प्रकम्पित रहता है ॥ १८४ ॥

करुण स्वर में रोते हुए अनाथ एवं चिन्तित नारकीय जीव की असह्य, अतुल एवं तीव्र दुःख का वर्णन कौन कर सकेगा। अर्थात् ऐसे नरक में पड़े दुःखी प्राणी के दुःख का वर्णन करना कठिन है ॥ १८५ ॥

सिम्बलिदाय नरक जो सोलह अंगुल लम्बे एवं मोटे लोहे के काँटों से युक्त है। जिसके चारो ओर अग्निज्वाला एक योजन ऊपर की ओर उठती रहती है ॥ १८६ ॥

चण्ड यमदूतों के द्वारा बार-बार दण्डित किये जाने पर तथा चाबुक तथा शक्ति एक अस्त्र विशेष आदि से आहत होने पर विद्ध हो जाता है ॥ १८७ ॥

अङ्ग प्रत्यङ्गों के फट जाने पर दुःखपूर्ण स्वर से चिल्लाता है। डर से रुदन्मुख हो दीन हीन अवस्था में बार-बार उस पर (लोहे के काँटों पर) आरोहन करता है ॥ १८८ ॥

मुख के ऊपर उठाने पर राक्षसों को देखता है तथा भय से आँख मूँदते हुए अंग से अंग को छिपाये हुए रहता है ॥ १८९ ॥

आराम करने का स्थान न पाकर काँपते हुए चेतना रहित होकर नरक में जिन दुःखों को भोगना पड़ता है उसकी क्या उपमा दी जाय ॥ १९० ॥

नरक एकान्ततः दारुण दुःखों से परिपूर्ण है, जिसका कथन करना कठिन है। इसलिए भगवान बुद्ध ने नरक के इन दुःखों के बारे में बताया है ॥ १९१ ॥

तिसत्तिसतविद्धस्य यं दुक्खं अविचिन्तियं ।
तन्नेरयिकदुक्खस्स हिमवासासपन्तरं ॥ १९३ ॥

अवीचि गूथनिरयो कक्कुळं कोटिसिम्बली ।
असिपत्तवनञ्चापि तथा खारोदिका नदी ॥ १९४ ॥

अङ्गारपब्बतो चापि सङ्घातं रोरुवम्पि च ।
कालहत्थी महायन्तो लोहकुम्भादिका पि च ॥ १९५ ॥

अमिता दुस्सहा भीमा घोरा हदयदारुणा ।
महादुक्खानुभोतब्बा निरये पापकम्मिना ॥ १९६ ॥

एतेसु एकमेकस्स विपाको पि अनप्पको ।
दुब्बचो अथ निस्सेसं नेकवस्ससतेसु पि ॥ १९७ ॥

तं हि नेरयिकं दुक्खं फुसित्वा वेदितब्बकं ।
वदन्तो पि च निस्सेसं कथं तं दीपयिस्सति ॥ १९८ ॥

एत्थ अग्गीति वुत्ते'व किन्नु पादो दहिस्सति ।
असद्दहन्तो अक्कन्तो दुक्खं पप्पोति दारुणं ॥ १९९ ॥

तस्मा इसीनं वचनं सद्दहन्तो विचक्खणो ।
पापकम्मानि वज्जेत्वाना तं पप्पोति आलयं ॥ २०० ॥

कण्टकेन पि विद्धस्स घटविन्दुविलीयनं ।
यावता अग्गिदाहो हि पतिकारो पि दुक्खमो ॥ २०१ ॥

जितना अन्तर अग्नि और चन्दन में.है उसी प्रकार का अन्तर नरकाग्नि और सामान्य अग्नि में समझना चाहिए ॥ १९२ ॥

तीन शक्ति (त्रिशुल) से सौ बार विद्ध होने पर जो अचिन्त्य दुःख होता है, वह नराकीय दुःख हिमालय के समान है तथा यह लोक दुःख उसके सामने सरसो के बराबर है ऐसा समझना चाहिए ॥ १९३ ॥

अवीचि, गूथनरक, कुक्कुल (कुकूल) निरय, शाल्मलीवन, असिपत्रवन और खारोदिका (क्षारोदक नदी) आदि नरक अत्यन्त भयावह है ॥ १९४ ॥

अङ्गार पर्वत, रौरव नरक, सङ्घात नरक, कालहस्ति, महायन्त्र, लौहकुम्भी आदि भी अवस्थित हैं ॥ १९५ ॥

इस प्रकार के अनेकों नरक अवस्थित हैं जो अत्यन्त दुस्सहनीय, भयानक, कठोर और हृदयद्रावक हैं। ऐसे नरकों में पापकर्म करने वाले अत्यन्त दुःख का अनुभव करते हैं ॥ १९६ ॥

इन नरकों में से एक-एक में विपाक (कर्मफल) का पूर्ण भोग भी नहीं हो जाता। (सत्त्व) अनेक सौ वर्षों तक विपाक के कारण कष्ट पाता रहता है, जिसे कहना कठिन है ॥ १९७ ॥

उस नराकीय दुःखों को स्पर्श कर उनकी वेदनाओं को सहना पड़ता है। अतः पूर्ण रूप से उन दुःखों का वर्णन कैसे किया जा सकता है। अर्थात् उन दुःखों का वर्णन करना कठिन है। उस नारकीय दुःख को जो भोग रहे हैं उनकी वेदना के बारे में कौन कैसे बता पायगा ॥ १९८ ॥

यहाँ अग्नि है, ऐसा कहते ही यह ज्ञात हो जाता है कि इस मार्ग से चलने से पैर जल जायगें। पर नारकीय जीव बिना सुने ही अग्नि पर चलते हुए दारुण दुःख प्राप्त करते हैं ॥ १९९ ॥

इसलिए पण्डितजन भगवान के वचनों पर श्रद्धा रखते हुए पापकर्मों से विरत होकर उन नराकीय दुःखों को प्राप्त नहीं करते । अर्थात् भगवान के वचनों का अनुशरण कर नरक से मुक्त रहते हैं ॥ २०० ॥

काँटे से विद्ध नारकीय सत्त्व के, जहाँ सर्वत्र अग्निदाह हो, जिसके कारण घड़े भर जल बिन्दु की तरह नष्ट हो जाते हों तथा जिनका प्रतिकार भी दुःसहनीय है; उनके दुःख के बारे में क्या कहा जा सकता है ॥ २०१ ॥

नेकवस्ससहस्सेसु निरये तिखिणग्गिना ।
एकजालीकतानं को दुक्खस्स खमनं वदे ॥ २०२ ॥

एकग्गिक्खन्धभूतापि कम्मेन परिरुन्धिता ।
निरये यदि जीवन्ति अहो कम्मं सुदारुणं ॥ २०३ ॥

अतिमन्दसुखस्स'त्थं यं मुहुत्तेन किब्बिसं ।
कतं तस्सातुलं कालं फलं यदि तु ईदिसं ॥ २०४ ॥

को हि मानुसदुक्खेन महन्तेनापि अट्टितो ।
मुहुत्तम्पि अनुम्मत्तो करे पापदरं नरो ॥ २०५ ॥

अहो मोहानुभावो'यं येनायं परिमोहितो ।
एवं दुक्खावहं कम्मं करोति च सुखत्थिको ॥ २०६ ॥

भायितब्बं हि पापतो एवं दुक्खफलं यतो ।
कुसले आदरो निच्चं कत्तब्बो दुक्खभीरुणा ॥ २०७ ॥

पदित्तङ्गारकासुं'व पपातं व भयानकं ।
पस्सन्तो दुग्गतीमग्गं पापं सम्परिवज्जये ॥ २०८ ॥

अमते च विसे चापि यथा हत्थगते नरो ।
अनादियित्वा अमतं विसं भुञ्जेय्य दारुणं ॥ २०९ ॥

एवं हि सम्पदमिदं लभित्वा मानुसं भवं ।
पुञ्ञकम्मं विवज्जेत्वा पापकम्माभिसेवनं ॥ २१० ॥

अनेक सहस्त्रवर्षों से नरक में तीक्ष्ण अग्नि से जलाये गये नारकीय प्राणी के असह्य दुःखसहन करने के बारे में कौन कह सकता है ॥ २०२ ॥

आग के समूह होने पर भी नरक में कर्मों के द्वारा रोके जाने के कारण यदि नारकीय प्राणी जीवित रहते हैं तो आश्चर्य है ऐसे दारुण कर्मों पर ॥ २०३ ॥

अतिमन्द सुख के लिए एक क्षण भी जिसने अकुशल कर्म किया है उसको अतुल काल तक इस प्रकार भयानक नारकीय दुःखों को भोगना पड़ता है ॥ २०४ ॥

एक क्षण के अणुमात्र भी यदि मनुष्य पापकर्मों (अकुशल कर्मों) का आदर करता है तो महान दुःखों से दुःखी होता है। इससे कोई लाभ नहीं होता, वरन् महान दुःखो में ही पड़ता है ॥ २०५ ॥

आश्चर्य है, मोह के आनुभाव को (प्रभाव को), जिससे मोहित होकर मनुष्य, दुःख की ओर ले जाने वाले कर्मों को, सुख के लिए करता है ॥ २०६ ॥

अकुशल से ड़रना चाहिए क्योंकि दुःख का फल भयावह है। अतः दुःख से भय रखने वाले लोगों को नित्य ही कुशल (सद्गुणों) का आदर करना चाहिए ॥ २०७ ॥

प्रदीप्त अङ्गारों में या भयानक प्रपात में पड़ने वाले दुर्गम मार्ग की भयानकता को देखते हुए पाप को छोड़ दें ॥ २०८ ॥

हस्तगत अमृत और विष में से जैसे मनुष्य अमृत का अनादर कर दारुण विष का चयन कर दुःख भोगता है ॥ २०९ ॥

ऐसा जानकर भी मनुष्य जीवन प्राप्त कर, पुण्यकर्मों को छोड़कर पापकर्मों का बराबर सेवन करता है। आश्चर्य है ॥ २१० ॥

६. पुञ्ञ-फल-उद्देस-गाथा

पुण्यफल संकेत गाथा

रागादि (लोभ, द्वेष एवं मोह) से प्रतिपक्ष चेतना को कुशल चेतना कहते हैं। प्रज्ञादि गुणों से युक्त यह कुशल चेतना सुख देनेवाली होती है ॥ २११ ॥

वह कुशल चेतना जब दानादि पुण्यवस्तुओं में से एक-एक से युक्त होती है तो वह उन-उन नामो से व्यवहृत होती है। यथाः—दानचेतना, शीलचेतना आदि ॥२१२॥

६. पुञ्ञ-फल-उद्देस-गाथा

पुञ्ञन्ति रागादीनन्तु पटिपक्खा हि चेतना।
पञ्ञादिगुणसंयुत्ता विञ्ञेय्या सुखदायिका ॥ २११ ॥

सा दानादिसु एकेके यदा द्वादस वत्थुसु ।
वत्तते तेन तेनें व नामेन वोहरीयति ॥ २१२ ॥

दानं सीलञ्च भावना पत्तिपत्तानुमोदना ।
देसना सवनं पूजा वेय्यावच्चं पसंसना ।
सरणमनुस्सति चेव पुञ्ञवत्थूनि बारस ॥ २१३ ॥

अन्नादिदानवत्थूनं चागो सुबुद्धिपुब्बको ।
यो तं दानन्ति दीपेन्ति बुद्धा दानग्गदायिनो ॥ २१४ ॥

कायकम्मा वीचकम्मा सावज्जा विरतीहि या ।
मिच्छाजीवा च तं सीलं इति वुत्तं महेसिना ॥ २१५ ॥

चित्तस्सोपक्किलेसानं या चिन्तापटिपक्खिका ।
तस्सा या भावना सा हि भावनाति पकित्तिता ॥ २१६ ॥

परमुद्दिस्स यं दानं अन्नवत्थादि दीयते ।
पत्तिदानन्ति तं आहु युत्तसद्धम्मदेसका ॥ २१७ ॥

मद्दी व पुत्तदानम्हि दिन्नस्सब्भनुमोदना ।
पत्तानुमोदना तीह वुत्ता उत्तमवादिना ॥ २१८ ॥

दान, शील, भावना, पत्तिदान, प्राप्तानुमोदन, धर्मदेशना, धर्मश्रवण, पूजा, सेदा, प्रशंसा, शरणगमन तथा अनुस्मरण बुद्धानुस्मरण, धम्मानुस्मरण, संधानुस्मरण आदि ये बारह पुण्यवस्तु हैं ॥ २१३ ॥

अन्न आदि दान योग्यवस्तुओं का बुद्धि पूर्वक त्याग को दान कहते हैं।[1] दानियों में अग्रणी भगवान् बुद्ध ने ऐसे दान के महत्त्व को प्रकाशित किया है, बतलाया है ॥ २१४ ॥

काय अकुशल कर्म तथा वची अकुशल कर्म से विरत रहने वाली चेतना तथा मिथ्या आजीविका से विरत रहने वाली चेतना को भगवान् बुद्ध ने 'शील'[2] कहा है ॥ २१५ ॥

चित्त के उपक्लेशों के प्रतिपक्ष चिन्ता को भावना कहते हैं, उसकी भावना अर्थात् कुशल धर्मों की भावना ही 'भावना' नामक पुण्यवस्तु कही जाती है। राग, द्वेष, मोह आदि चित्त के उपक्लेश हैं। अतः इनके विपक्ष अलोभ, अद्वेष एवं अमोह युक्त चेतना के लिए प्रयत्न करना तथा उस प्रयत्न को बढ़ाना ही भावना[3] है ॥ २१६ ॥

अन्न वस्त्रादि जो दान करते हैं उस पुण्य को जो दूसरे को उद्दिष्ट कर दान करते हैं उसे ही भगवान् बुद्ध ने 'पत्तिदान' कहा है ॥ २१७ ॥

प्राप्त पुण्य का दान देना ही 'पत्तिदान' है। जब पुद्गल सर्वप्रथम किसी वंस्तु का दान करता है तब उस दान की कारणभूत दान चेतना दायक में ही प्राप्तव्य

---

1. द्र. विभ. अ. पृ. १४५ । अभि. सं. ५; ५६ ।
2. द्र. विभ. अ. पृ. १४५ ।.
3. "अधिकुसलं भावेति उप्पादेति वड्ढेतीति भावना" अभि. सं. ५६३ ।
"भावेन्ति एताया ति 'भावना'। अधिकुसलधम्मे अनुप्पनो वा उप्पादेन्ति, उप्पन्ने वा वड्ढेन्तीति अत्थो"-प. दी पृ. १९८ ।
"भावेति कुसलधम्मे आसेवति वड्ढेति एताया ति 'भावना ।" विभा. पृ. १३३ ॥
"पटिसम्भिदायं वुत्तेन विपस्सनामग्गेन चक्खुं अनिच्चतो दुक्खतो अनत्ततो भावेन्तस्स ....जरामरणं अनिच्चतो दुक्खतो अनत्ततो भावेन्तस्स पवत्ता चेतना अट्ठतिंसाय वा आरम्मणेसु अप्पनं अप्पत्ता सब्बापि चेतना 'भावनामयं पुञ्ञकिरियवत्थु' नाम ।"
अट्ठ. पृ. १२९, विभा, पृ. ३८५ ।
द्र. पटि. म. पृ. ५३, ५५, विसु. म. पृ. ५७, ५९ । विभ. अ. पृ. १४५ ।
द्र. समाहितं तु कुशलं, भावना चित्तवासनात् । अभि. को. ४, १२३ ।
द्र.-"उपरि वुच्चमाना समथविपस्सनावसेन दुविधा भावना 'भावना' नाम । प. दी. पृ. २० ।
"चत्तालीसाय कम्मट्ठानेसु खन्धादीसु च भूमीसु परिकम्मसम्मसनवसप्पवत्ता अप्पनं अप्पत्ता गोत्रभूपरियोसानचेतना 'भावना' नाम । विभा. पृ. १३४ ।

हितज्झासयतो या हि परस्स हितदेसना ।
देसनामयपुञ्ञन्ति देसयि तं सुदेसको ॥ २१९ ॥

विहाय विक्खेपमलं अट्ठिकत्वान साधुकं ।
सद्धम्मसवणं एत्थ सवणन्ति पकासितं ॥ २२० ॥

गुणयुत्तेसु सक्कारकिरिया वन्दनादिका ।
पूजारहेन मुतिना पूजा ति परिकित्तिता ॥ २२१ ॥

गिलानगुणवन्तानं दानादिकिरियासु वा ।
आसनोदकदानादि वेय्यावच्चन्ति सञ्ञितं ॥ २२२ ॥

9450

कुसलं हि करोन्तानं पहासुस्साहकारिका ।
गुणतो वण्णना या सा पसंसा ति पकित्तिता ॥ २२३ ॥

गुणसम्भावना पुब्बं ताणसञ्ञाय भावतो ।
वत्थुत्तयस्स सरणागमनं सरणं मतं ॥ २२४ ॥

छळानुस्सतिवत्थूसु अञ्ञेसु कुसलेसु वा ।
उपक्लेसविनिम्मुत्ता गुणतोनुस्सतीह या ॥ २२५ ॥

इमेसु खलु वत्थूसु निब्बत्ता पुञ्ञसम्मता ।
चेतना इट्ठफलदा तं कथं इति चे वदे ॥ २२६ ॥

वुत्तोवस्स परिहारो इमस्सेतं फलन्ति च ।
गुरूपदेसागमतो किञ्चि मत्तं भणीयति ॥ २२७ ॥

होने के कारण 'पत्ति' कही जाती है। उस प्राप्तब्य पुण्य को किसी एक सत्त्व के या सम्पूर्ण सत्त्वों के उद्दिष्ट से 'यह कुशल जितना मुझे प्राप्त हुआ है, उतना किसी एक को या सम्पूर्ण सत्त्वों को प्राप्त हो-ऐसा चिन्तन करके देने की कारणभूत चेतना 'पत्तिदान' है।[1] अट्ठकथाओं में दान करके उसका समभाग अन्य के लिए विसर्जित करना मात्र 'पत्तिदान' कहा गया है।[2]

भद्र पुरुष के द्वारा प्राप्त पुण्य के दान का अनुमोदन करना ही 'पत्तानुमोदन' है ऐसा भगवान् बुद्ध ने कहा है। दूसरों द्वारा दिये गये कुशल भाग का अनुमोदन करने की कारणभूत चेतना 'पत्तानुमोदन'[3] है ॥ २१८ ॥

कल्याण के अभिप्राय से जो दूसरो के लिए हितोपदेश है, उसे ही सुदेशक भगवान् बुद्ध ने देशनामय पुण्य कहा है। अथवा सत्त्वों के हित सुख के लिए पवित्र चेतना द्वारा की गयी धर्मदिशना 'देशनामयपुण्यवस्तु' है[4] ॥ २१९ ॥

विक्षेपमलों को हटाकर अच्छी तरह से ध्यान देकर सद्धर्म का श्रवण करने को 'धर्मश्रवणपुण्य' वस्तु कहा गया है[5] ॥ २२० ॥

श्रद्धाभाव से युक्त होकर गुणयुक्त पुरुषों के प्रति सत्कार, वन्दनादि क्रिया को 'पूजा' कहा गया है। अथवा पूजार्ह के प्रति सम्मान, सत्कार, वन्दना, श्रद्धाभाव आदि क्रिया को 'पूजा' पुण्यवस्तु कहते हैं। अथवा माता, पिता, गुरु एवं धर्म को पालन करने वाले श्रमण, ब्राह्मण पूजयनीय होते हैं, ऐसे पूज्य जनों के प्रति पूजा

---

1. 'पज्जित्था ति पत्ति अत्तनि लद्धपुञ्ञकोट्ठासस्स नाम । पापीयतीति वा पत्ति, परेहि अनुमोदन्तेहि लद्धब्बस्स पुञ्ञनिस्सन्दस्सेतं नाम । पत्तिं ददन्ति एतेनाति पत्तिदानं ।'-प. दी. पृ. १९८ ।
   'अत्तनो सन्ताने निब्बत्ता पत्ति दीयति एतेना ति पत्तिदानं । विभा. पृ. १३३ ।
2. 'दानं दत्वा गन्धादीहि पूजं कत्वा 'असुकस्स नाम पत्ति होतू' ति वा सब्बसत्तानं' ति वा पत्तिं ददतो "पत्तानुप्पादानं वेदितब्बं ।' अट्ठ., पृ. १२९ ।
3. 'परेहि दिन्नाय पत्तिया 'साधु, सुट्ठु' ति अनुमोदनवसेन' पत्तब्भनुमोदनं' वेदितब्बं ।
   दी. नि. अ. तृ. भा. (पाथिकवग्गट्ठकथा) पृ. १८२ ।
   'परेहि दिन्नाय पत्तिया वा अञ्ञाय वा पुञ्ञकिरियाय 'साधु' सुट्ठु' ति अनुमोदनवसेन 'अब्भनुमोदनं' वेदितब्बं ।' अट्ठ. पृ. १२९ ।
   'पत्तिं अनुमोदति एतायाति 'पत्तानुमोदना'।' विभा. पृ. १३३ ।
   'तदेव परेहि दिन्नं अनुमोदन्ति, साधुकारं ददन्ति एतेना ति पत्तानुमोदनं ।' प. दी. पृ. १९८ ।
4. द्र. अ. सा. पृ. १२९, विभा. पृ १३४, प. दी. पृ २०१ ।
5. द्र. अट्ठ. सा. पृ. १३०, प. दी. पृ. २०१, विभा. १३४ ।

दानं भोगावहं सीलं कुलसग्गादिसाधकं ।
रूपारूपभवाभिञ्ञा मोक्खा भावनसम्भवा ॥ २२८ ॥

पत्तिदानं दानफलं मोदनाहासदायिका ।
देसना सवना चापि उभो पञ्ञावहा मता ॥ २२९ ॥

पूजाहि पूजनीयेसु कुलेसु उदयावहा ।
वेय्यावच्चं परिवारसम्पदाहेतु सम्मतं ॥ २३० ॥

पासंसियम्पसंसाय सरणेनरणत्तनं ।
अनुस्सतिविसेसस्स सब्बा सम्पत्तियो फलं ॥ २३१ ॥

सदिसन्तु फलं एवं फलं विसदिसम्पि च ।
पच्चयानं विसेसेन अनन्तमिति वेदियं ॥ २३२ ॥

मग्गं अप्पितचित्तञ्च ठपेत्वा भावनामये ।
सब्बं दानादिकं पुञ्ञं कामलोकफलावहं ॥ २३३ ॥

आयुरारोग्यवण्णञ्च यसो कित्ति कुलं बलं ।
रज्जं इन्दत्तनं भोगो बुद्धरूपादिका पि च ॥ २३४ ॥

याहि अञ्ञापि सम्पत्ति विपाकसुखपच्चया ।
मग्गज्झानफले हित्वा सकला कामपुञ्ञजा ॥ २३५ ॥

रूपारूपिकपुञ्ञन्तु रूपारूपभवावहं ।
मग्गञ्चतुब्बिधञ्चापि यथा सकफलावहं ॥ २३६ ॥

(श्रद्धा) के भाव से युक्त होकर सम्मान व्यक्त करना, श्रद्धा व्यक्त करना या उनका अभिवादन करना 'पूजा[1] है ॥ २२१ ॥

रोगी, एवं गुणवानों के दानादि क्रिया में आसन विछाना, जल लाकर देना आदि सेवा को 'वेय्यावच्च' पुण्यवस्तु बताया गया है।[2] अर्थात् गुरुजनों की शुश्रूषा ही 'वेय्यावच्च' है, यथा–गुणज्ञ माता, पिता एवं रोगी आदि अन्य व्यक्तियों की सेवा में संलग्न रहना ही 'वेय्यावच्च' पुण्यवस्तु है ॥ २२२ ॥

कुशल कर्मो को करनेवाले मनुष्यों के प्रति उत्साहजन्य प्रीति या उनके गुणों का वर्णन करना ही 'पससा' या प्रशंसा नामक पुण्यवस्तु है। अथवा कुशलकर्मों में रत मनुष्यों का गुणकीर्तन करना ही 'प्रशंसा' नामक पुण्यवस्तु है ॥ २२३ ॥

त्रिरत्न (बुद्ध, धर्म, संघ) के शरण में जाना ही "शरण" है। जो हितसाधक धर्मों की प्रवृत्ति तथा अहितसाधक धर्मों की अप्रवृत्ति द्वारा सत्त्वों के भय, संत्रास, दुःख को विनष्ट करता है तथा जो पूर्व में गुणों की सम्भावना से युक्त है तथा जो संसार कन्तार से त्राण दिलाने में सहायक है। वैसे बुद्ध, धर्म एवं संघ की शरणागमन को 'शरण' पुण्यवस्तु कहा जाता है ॥ २२४ ॥

छ अनुस्मरण वस्तुओं में अथवा अन्य कुशलधर्मों के गुणों का सतत् स्मरण करना 'अनुस्सति' या अनुस्मृति पुण्यवस्तु है, जो उपक्लेशों से रहित है। बुद्धानुस्मृति, धर्मानुस्मृति, संघानुस्मृति, शीलानुस्मृति, त्यागानुस्मृति, देवतानुस्मृति, मरणानुस्मृति, कायगतास्मृति, आनापानास्मृति तथा उपशमानुस्मृति ये छ अनुस्मृतियाँ हैं। इनके गुणों का बार-बार स्मरण करना ही "अनुस्सति" पुण्यवस्तु है[3] ॥ २२५ ॥

इन बारह पुण्यवस्तुओं में उत्पन्न चेतना कुशलचेतना होती है। यह अत्यन्त इष्ट फल को देनेवाली होती है। इसके द्वारा जो इष्ट फल होता है उसका वर्णन

1. "रतनत्तये पन मातापितूसु कुले जेट्ठेसु आचरियेसु धम्मिक समणब्राह्मणेसु अञ्ञेसु च गुणवयबुद्धेसु यथारहं पच्चुट्ठानं वन्दनं अञ्जलिकरणं सामिचिकरणं वत्तपटिवत्तकरणं ति एवमादि सब्बं 'अपचायनं' नाम।" प. दी. पृ. २०१ ॥
द्र. विभा. पृ. १३४।
द्र."महल्लकं पन दिस्वा पच्चुग्गमन-पत्तचीवरपटिग्गहणअभिवादनमग्गसम्पदानादिवसेन 'अपिचितिसहगतं' ति वेदितब्बं।" अट्ठ. सा. पृ. १२९।
2. द्र. अ. सा. पृ. १२९। विभा. पृ. १३४। प. दी. पृ. २०१।
3. द्र. वि. म. छअनुस्सतिनिद्देसो, पृ. ४०९ ॥

एते आसेविता येहि ते सग्गेसूपजायरे ।
न अक्खानेन पत्तब्बं सुखं तत्थ अनोपमं ॥ २३७ ॥

सग्गेसु हेट्ठिमसुखं चक्कवत्तिसुखेन हि ।
पाणिमत्तकपासान हिमवन्तन्तरम्मतं ॥ २३८ ॥

यानि पञ्ञास वस्सानि मनुस्सानं दिनं तहिं ।
तिंस रत्तिन्दिवो मासो मासा द्वादस वच्छरं ।
तेन संवच्छरेनायु दिब्बं पञ्चसतम्मतं ॥ २३९ ॥

हेट्ठिमानन्तु देवानं आयुनो हि चतुग्गुणं ।
उपरूपरि देवानं छन्नञ्चापि विजानियं ॥ २४० ॥

रतनुत्तमचित्तेहि विहङ्गपथचारिहि ।
विमानेहि चरन्तानं को सुखं वण्णयिस्सति ॥ २४१ ॥

एको व रुक्खो फलति सब्बं इच्छानुकूलकं ।
यम्हि तत्थ वसन्तानं को सुखं वण्णयिस्सति ॥ २४२ ॥

सुगन्धा सुखसम्फस्सा सोवण्णापि पिलन्धना ।
येसं पुञ्ञेन को तेसं सुखग्गं वण्णयिस्सति ॥ २४३ ॥

अच्छराविज्जुसञ्चारा अच्छेरसतमण्डिता ।
मुत्ता वालुकसञ्छन्ना युत्ता पुञ्ञफलत्तने ॥ २४४ ॥

कौन कर सकता है! अर्थात् कुशल चेतना सभी कुशल कर्मों की सम्पादिका होती है ॥ २२६ ॥

इष्टफल जो कुशल चेतना के फलस्वरूप होता है उसका कहना या वर्णन करना यद्यपि कठिन है, तथापि इस बात के परिहार के लिए इनके ये फल होते हैं यह गुरूपदेश तथा आगम (त्रिपिटक) के आधार पर किञ्चित मात्र कहा जा रहा है ॥ २२७ ॥

दान से अनेक भोगों की प्राप्ति, शील पुण्यवस्तु कुलमर्यादा की रक्षा तथा स्वर्ग (सुख) साधक है। तथा भावना पुण्यवस्तु के फलस्वरूप रूपारूपभव का ज्ञा॰, तथा मोक्ष की प्राप्ति सम्भव है ॥ २२८ ॥

प्राप्त पुण्य का दान करने की चेतना से जीवन में आनन्द एवं हर्ष प्राप्त होता है, तथा देशना एवं धर्मश्रवण पुण्यवस्तु की चेतना से प्रज्ञा की प्राप्ति होती है ॥ २२९ ॥

पूजनीय एवं आदरणीय-जनों की पूजा एवं आदर समर्पित करने से कुल का उदय एवं वृद्धि होती है तथा पूज्य जनों की सेवा की चेतना से परिवार सम्पूर्ण सम्पदाओं से सम्पन्न होता है ॥ २३० ॥

गुणज्ञों की प्रशंसा की चेतना से प्रशंसा की प्राप्ति होती है, शरणागमन की चेतना से मनुष्य को शरणागति मिलती है। तथा 'अनुस्सति' विशेष की चेतना से युक्त होने पर सभी सम्पत्तियाँ प्राप्त होती है ॥ २३१ ॥

इस प्रकार इन बारह पुण्यवस्तुओं का सदृश फल ऊपर कहा गया है इसके विसदृश फल भी होते हैं। प्रत्ययों की विशेषता के फलस्वरूप इनके अनन्त फल होते हैं ऐसा जानना चाहिए ॥ २३२ ॥

मार्ग चित्त (श्रोतापन्न, सकृदागामी, अनागामी, एवं अर्हत् मार्ग चित्त) तथा अर्पणा समाधि को छोड़कर भावनामय पुण्यवस्तु कुशल चेतना का उत्पाद करती है। दान-शील एवं भावनामय पुण्यवस्तु कामलोक (कामावचरभूमि) में पुण्यफल देने वाला होता है। इसके फलस्वरूप कामलोक में निम्नलिखित सुख एवं ऐश्वर्य को प्राप्त करते हैं)॥ २३३ ॥

आयु, आरोग्य, वर्ण, यश, कीर्ति, कुल बल, राज्य, इन्द्र के समान भोग एवं ऐश्वर्य तथा बुद्ध रूप आदि को प्राप्त करानेवाला होता है ॥ २३४ ॥

सम्पफुल्ललतालम्बमनुञ्ञागिन्दमण्डिता ।
विचित्तपत्तपक्खीनं वग्गुनिग्घोसनादिता ॥ २४५ ॥

सुवण्णमणिसोपाननीलामलजलासया ।
अवण्णरहितानेकसुगन्धकुसुमोत्थटा ॥ २४६ ॥

पुञ्ञकम्ममहासिप्पिकप्पिता पीतिवद्धना ।
पापकम्मरतावासा विपक्खसुखदायिका ॥ २४७ ॥

सब्बोतुकसुखारम्मा उय्याना नन्दनादयो ।
ये पमोदेन्ति को तेसं सुखग्गं वण्णयिस्सति ॥ २४८ ॥

सरालङ्कारवण्णादि यासं सेच्छावसानुगा ।
ताहि सद्धिं रमन्तानं कथं दुक्खागमो सिया ॥ २४९ ॥

अरोगा अजरा येसं पदीपच्चीव निम्मला ।
काया सयम्पभा तेसं को सुखं वण्णयिस्सति ॥ २५० ॥

आरम्मणं परित्तम्पि यत्रट्ठस्सामनापियं ।
दुल्लभं तम्हि सग्गम्हि को सुखं वण्णयिस्सति ॥ २५१ ॥

अब्भुतं कामजं सुखं देवलोकम्हि यादिसं ।
तं तथा व पदेसञ्ञू को सुखं वण्णयिस्सति ॥ २५२ ॥

पुञ्ञेसु लामकस्सापि को दिस्वा फलमीदिसं ।
संहरेय्य मुहुत्तम्पि पुञ्ञक्रियपरक्कमं ॥ २५३ ॥

मार्ग ध्यान (लोकोत्तर ध्यान) के फलों को छोड़कर अन्य जो भी सुखविपाक जन्य फल हैं वे सभी कामावचर कुशल जन्य हैं ॥ २३५ ॥

रूपावचरकुशल तथा अरूपावचर कुशल चेतना रूपारूपभव (रूपभव एवं अरूपभव) कारक होता है। श्रोतापन्न, सकृदागामी, अनागामी एवं अर्हत् मार्ग ध्यान भी अपने-अपने अनुकूल फलचित्त का जनक होता है ॥ २३६ ॥

जो इन पुण्यवस्तुओं का सेवन करते हैं वे स्वर्ग लोक में उत्पन्न होते हैं, तथा वहाँ जिस अनुपम सुख को वे प्राप्त करते हैं उसका कथन करना कठिन है ॥ २३७ ॥

स्वर्ग का सबसे निचले स्तर का सुख और चक्रवर्ती राज्य सुख में उसी प्रकार का अन्तर समझना चाहिए जिस प्रकार हाथ का पाषाण तथा हिमालय में अन्तर है ॥ २३८ ॥

मनुष्य का पचास वर्ष एक दिन होता है, तीस रात-दिन का एक महीना तथा बारह महीने का वर्ष होता है। ऐसे संवत्सर से पाँच सौ संवत्सर उनकी आयु होती है ॥ २३९ ॥

नीचे के देवताओं की आयु चारगुणी होती है तथा ऊपर-ऊपर के देवताओं की आयु छःगुणी तक होती है, ऐसा जानना चाहिए ॥ २४० ॥

उत्तम रत्नजटित विचित्र विमानों से आकाश मार्ग में विचरण करने वाले (विहङ्गपथचारी) का सुख को कौन वर्णन कर सकेगा? अर्थात् उस सुख का वर्णन करना कठिन है ॥ २४१ ॥

जहाँ एक ही वृक्ष इच्छानुकूल सभी फल फलते हैं, वहाँ रहनेवाले प्राणी के सुख का कौन वर्णन कर सकेगा ॥ २४२ ॥

जिस पुण्य (कुशल) कर्मों के फलस्वरूप सुन्दरगन्ध, सुखद स्पर्श तथा स्वर्ण-सज्जित स्वरूप प्राप्त होता है, उस श्रेष्ठ सुख का वर्णन कौन कर सकेगा ॥ २४३ ॥

अपने पुण्य फल के कारण सैंकड़ों चञ्चल अप्सराओं से घिरा रहता है तथा वहाँ की भूमि मोतियों एवं बालुओं से सुसज्जित है ॥ २४४ ॥

लतावितानों तथा खिले पुष्पों से मनोहर तथा अनेक ऐश्वर्यों से मण्डित है। तथा विचित्र पक्षियों के मधुर स्वरों से निनादित है ॥ २४५ ॥

हीनं गम्मं अनरियं इति सम्बुद्धनिन्दितं ।
सुखं कामावचरिकं तस्सापेवं उळारता ॥ २५४ ॥

झायिनो अमिताभा ये पीतिभक्खा महिद्धिका ।
ब्रह्मानो को सुखं तेसं न मुनि वण्णयिस्सति ॥ २५५ ॥

तिभागकप्पं जीवन्ति ब्रह्मलोकेसु हेट्ठिमा ।
चतुरासीतिसहस्सानि कप्पानि तेसु उत्तमा ॥ २५६ ॥

पूरा सासपियो कोट्ठे सब्बतो योजनायतो ।
ततो वस्ससते पुण्णे छड्डेत्वा एकमेककं ।
यावता रित्तकं होति दीघो कप्पो ततो पि च ॥ २५७ ॥

आयुना एव विञ्ञेय्यो तेसं सेसो सुखोदयो ।
इमिना पूतिकायेन मन्दकालेन साधियो ॥ २५८ ॥

नेककप्पसतं आयु सुखञ्चापि मनोमयं ।
येसं तेसं सुखङ्गस्स का एत्थ उपमा सिया ॥ २५९ ॥

विसिट्ठमिह यं पुञ्ञं निब्बानावहमेव तं ।
उळारफलदं एवं ब्रह्मलोकेसु मज्झिमं ॥ २६० ॥

परित्तं कामलोकम्हि पञ्चकामगुणोदयं ।
अञ्ञं द्वयं हितसुखं सब्बं देति असेसकं ॥ २६१ ॥

नील, मलरहित जलाशय स्वर्ण मणिसोपानों से युक्त है। अनेक सुन्दर सुगन्ध-युक्त पुष्प पुष्पित हैं ॥ २४६ ॥

पाप कर्मों से अलग रहें क्योंकि पुण्यकर्म महाशिल्पी द्वारा परिकल्पित भोग प्रीति को बढ़ाता है, जो सुखदायक है ॥ २४७ ॥

सभी ऋतुओं में सुख और आराम देने वाले नन्दन वन आदि में जो आनन्द मनाते हैं उनके उस श्रेष्ठ सुख का वर्णन कौन कर सकेगा ॥ २४८ ॥

स्वर, अलंकार, वर्ण आदि जिसके इच्छाधीन हैं, उनके साथ रमण करने वाले को भला कैसे दुःख का आगम होगा ॥ २४९ ॥

जो अजर, अरोग और दीपशिखा की भाँति निर्मल तथा स्वयं प्रभा से युक्त है, उनके सुख का कौन वर्णन कर सकेगा ॥ २५० ॥

जहाँ अल्प आलम्बन (अल्प सुख) भी मनोज्ञ एवं मनोहारी है ऐसे दुर्लभ स्वर्ग सुख का वर्ण कौन कर सकेगा ॥ २५१ ॥

जैसा अद्भुत एवं इच्छानुकूल सुख देवलोक में है, वैसा अन्यत्र नहीं है। अतः जो उस प्रदेश में उसी प्रकार के सुख से युक्त है, उनके सुख का वर्णन करना कठिन है ॥ २५२ ॥

अल्पमात्र पुण्य (कुशल कर्म) का फल इस प्रकार देखकर कौन एक क्षण को भी नष्ट करेगा, अपितु पुण्य कर्मों को उत्साहपूर्वक एकत्रित करने में ही लगायेगा। अर्थात् प्रत्येक क्षण में कुशल कर्मों का सम्पादन करना चाहिए ॥ २५३ ॥

हीन, ग्राम्य एवं अनार्यों के योग्य कामावचरीय सुख जो सम्यक्सम्बुद्ध द्वारा निन्दित है, वह भी इस प्रकार विशाल एवं श्रेष्ठ है ॥ २५४ ॥

जो ध्यानी है, अनन्त आभा वाले, प्रीति भक्ष और महाऋद्धिमान् हैं उन ब्रह्मा के सुख को मुनि भी वर्णन नहीं कर सकते ॥ २५५ ॥

कल्प के तीन भाग ब्रह्मलोक से नीचे वाले देवभूमि के लोग जीते है, चौरासी हजार कल्प तक उनसे उत्तम भूमि में रहने वाले देवता जीते है ॥ २५६ ॥

एक योजन आयत के कोष्ठागार सरसों से पूर्ण भरा हो ऐसे कोष्ठागार से एक सौ वर्ष पूर्ण होने तक एक-एक सरसों से रिक्त होता जाय तो जितने दिन में कोष्टागार रिक्त हो सकता है उससे भी दीर्घ एक कल्प होता है ॥ २५७ ॥

सुदुल्लभं बुब्बुलदुब्बलं इमं,
सरीरमेवंविधपुञ्ञसाधकं ।
अपुञ्ञकम्मेसु पयोजयं जनो,
सिनेरुमुद्धा पतितो व सोचियो ॥ २६२ ॥

७. दानानिसंस-गाथा

पुनापी पुञ्ञवत्थूनं आनिसंसमहन्ततं ।
किञ्चि मत्तं भणिस्सामि सुद्धानं बुद्धिमोदकं ॥ २६३ ॥

चित्तवत्थु-पटिग्गाहवसा दानविसेसता ।
हीनमज्झविसिट्ठं तं भोगसग्गविमोक्खदं ॥ २६४ ॥

दानं खलु सभावेन सग्गमानुसभोगदं ।
परिणामवसेनेव होति मोक्खूपनिस्सयं ॥ २६५ ॥

देय्यधम्मपटिग्गाहकम्मकम्मफलेसु हि ।
लोभादीनं अभावेन होति चित्तस्स सम्पदा ॥ २६६ ॥

इध मज्जवनिज्जादि परोपद्दवमेव च ।
अकत्वा ञायतो लद्धं होति वत्थुस्स सम्पदा ॥ २६७ ॥

लाभालाभोपभोगेसु लोभादीनं अभावतो ।
सन्तमानसता होति पटिग्गाहकसम्पदा ॥ २६८ ॥

तीहि द्वीहि अथेकेन सुविसुद्धं तिधापि च ।
विसुद्धञ्च विसिट्ठन्ति ञेय्यं दानं यथाक्कमं ॥ २६९ ॥

इस प्रकार से स्वर्गलोक में रहने वालों की आयु जानना चाहिए उनके लिए शेष आयु सुख उत्पन्न करते रहते हैं इसलिए इस अशुद्ध शरीर के द्वारा पुण्य कार्यों को कर सुख के योग्य बनाना चाहिए ॥ २५८ ॥

अनेक कल्पशत जिनकी आयु हैं, इच्छानुकूल सुख भी जहाँ प्राप्त है, उनके उस श्रेष्ठ सुख की उपमा कैसे दी जाय। अर्थात् उनका वह श्रेष्ठ सुख अनुपमेय है ॥ २५९ ॥

जो पुण्यकर्म निर्वाण की ओर ले जाने वाले हैं वे पुण्यकर्म विशिष्ट है, तथा जो श्रेष्ठ एवं उदार फल को देने वाले है। वैसे ब्रह्मलोक की प्राप्ति कराने वाले पुण्यकर्म को मध्यम जानना चाहिए ॥ २६० ॥

कामलोक में पाँच कमागुणों का सुख परित्र (अल्प) है तथा अन्य दो (रूपलोक, अरूपलोक) हित सुख एवं सब कुछ का साधक होता है ॥ २६१ ॥

अनित्य एवं दुर्बल इस दुर्लभ शरीर को पाकर पुण्य कर्मों का सम्पादन करना चाहिए क्योंकि पुण्य इस प्रकार सुख का साधक है। जो व्यक्ति अपने को अकुशल कर्मों (अपुण्य) में लगाता है वह उसी प्रकार पश्चाताप करता है, जैसे कोई पुरुष सिनेरु शिखर से गिर कर पश्चाताप करता है ॥ २६२ ॥

पुण्यफल संकेत गाथा समाप्त।

७. दानानिसंस गाथा

दान के शुभ परिणाम की गाथा

पुण्यवस्तुओं के महान शुभ परिणामों का पुनः किंचिन्मात्र वर्णन करूँगा, जो शुद्ध हृदयवाले मनुष्यों के लिए आनन्ददायक होगा ॥ २६३ ॥

दानचित्त, दानवस्तु और दान प्रतिग्राहक के योग से दान भी हीन, मध्यम तथा श्रेष्ठ भेद से क्रमशः भोग, स्वर्ग एवं मोक्षदायक होता है ॥ २६४ ॥

दान स्वभावतः मनुष्य को स्वर्ग और भोग को देनेवाला है। परिणामस्वरूप दान मोक्ष का आधार है ॥ २६५ ॥

यथा सासपमत्तम्हा बीजा निग्रोधपादपो ।
जायते सतसाखड्ढो महानीलम्बुदोपमो ॥ २७० ॥

तत्थेव पुञ्ञकम्मम्हा अनुम्हा विपुलं फलं ।
होतीति अप्पपुञ्ञन्ति नावमञ्ञेय्य पण्डितो ॥ २७१ ॥

पच्चयानं बले लद्धे दिट्ठधम्मे परत्थ च ।
पुञ्ञकम्मं अपुञ्ञञ्च फलतीति विजानियं ॥ २७२ ॥

सन्दिट्ठिकं फलं बीजा अङ्कुरं वातिमन्दकं ।
पारत्थिकं फलं यन्तं फलं व अविचिन्तियं ॥ २७३ ॥

सन्दिट्ठिकं पञ्चविधं ददतो विपुलं फलं ।
सीहस्स सेनापतिनो मुनिसीहेन भासितं ॥ २७४ ॥

पियो दानपति होति गिम्हकाले व अम्बुदो ।
भजन्ति तं बहू सत्ता फलरुक्खं व अण्डजा ॥ २७५ ॥

कित्तिसदञ्च पप्पोति तिलोकमहितं हितं ।
दायको ससराजा व नरिन्दोरिन्दमो विय ॥ २७६ ॥

विसारदो व परिसं पसङ्कमति दायको ।
कतस्समो व सत्थेसु परिसं अकतस्समं ॥ २७७ ॥

यदा अन्तिमसेय्यायं जरारोगाभिपीळितो ।
पुब्बकम्मजवे सन्ते सयितो होति दुक्खितो ॥ २७८ ॥

देयधम्म (देय्यवस्तु) दानप्रतिग्राहक तथा दानकर्म और दान के फल में लोभादि का अभाव होता है। इसलिए दान से त्याग चित्त की प्राप्ति रूपी सम्पदा प्राप्त होती है ॥ २६६ ॥

इस लोक में मद्य का व्यापार आदि यथा-मद्य, विष, प्रणी, मांस, शस्त्र का व्यापार से अर्जित धन को मिथ्या आजीविका कहते हैं। मिथ्या आजीविका को छोड़कर शुद्धाजीविका को जानकर उसके द्वारा अर्जित धन को वस्तु सम्पदा कही जाती है ॥ २६७ ॥

लाभ, अलाभ जन्य उपभोग वस्तुओं में लोभ आदि का अभाव के कारण जो शान्तमनवाला है, वह दान लेने योग्य है इसे ही प्रतिग्राहक सम्पदा कही गई है ॥ २६८ ॥

ये तीनों में से जो तीन, दो तथा एक सम्पदा से युक्त है अथवा तीनों से युक्त हो तो ऐसे दान को क्रमशः सुविशुद्ध, विशुद्ध तथा विशिष्ट जानना चाहिए ॥ २६९ ॥

जिस प्रकार सरसो मात्र बीज से वट वृक्ष उत्पन्न हो जाता है और सैकड़ों शाखाएँ नीले आकाश की भाँति व्याप्त होता है ॥ २७० ॥

उसी प्रकार अणुमात्र पुण्य कर्मों का महान फल होता है। इसलिए पण्डितजन अल्पपुण्य का भी अवमानना न करें ॥ २७१ ॥

प्रत्ययों के बल को प्राप्त कर जीतेजी तथा मरने पर पुण्यकर्म तथा अपुण्य-कर्म फलदायक होता है ऐसा जानना चाहिये ॥ २७२ ॥

जिस प्रकार बीज धीरे-धीरे अङ्कुरित होता है उसी प्रकार सांदृष्टिक फल को समझना चाहिए तथा पारलौकिक फल को उस प्रकार जिस प्रकार किसी वृक्ष के फल अचिन्त्य होता है ॥ २७३ ॥

दान का सांदृष्टिक पाँच महान फल होते हैं ऐसा सीहसेनापति सारिपुत्र को भगवान बुद्ध ने कहा है[1] ॥ २७४ ॥

---

1. सीहसेनापतिसुत्त-अं. नि. चतुक्क-पञ्चकनिपात पृ. ३०४, ३०५, ३०६ ।

दिट्ठारिट्ठो च वेज्जेहि महाहिक्काभिपीळितो ।
तुज्जमानो'व सूलेहि छिज्जमानेसु सन्धिसु ॥ २७९ ॥

ततोपरुज्झमानेसु इन्द्रियेसु असेसतो ।
इन्द्रिये उपरुज्झन्ते अन्धकारे उपागतो ॥ २८० ॥

महासोकाभितुन्नेसु रुदमानेसु बन्धुसु ।
खते खारेन सित्तो व बन्धुसोकेन अद्दितो ॥ २८१ ॥

अत्ताणे सब्बतो जाते आगते च महब्भये ।
महापपातं पाते व भुसम्मुय्हति मानसं ॥ २८२ ॥

तदा अकतपुञ्ञस्स कतपुञ्ञस्स वापि च ।
सुकम्मं समुपट्ठाति अपकारोपकारतो ॥ २८३ ॥

यानि'स्स तम्हि समये पापकानि कतानि हि ।
तानि'स्स तम्हि समये अज्झोलम्बन्ति मानसं ॥ २८४ ॥

तदा'निट्ठनिमित्तानि अतिघोरानि दिस्सरे ।
निरयपालग्गी-आदीनि निरयगामिस्स जन्तुनो ॥ २८५ ॥

तम्बक्खिके वङ्कदाठे हरिदाठी सिरोरुहे ।
लुद्दे अञ्जनपुञ्जाभे उग्गदण्डे सुदारुणे ॥ २८६ ॥

करुणं दूरतो कत्वा कालदण्डेन आगते ।
यमदूते तदा दिस्वा ब्यथते तस्स मानसं ॥ २८७ ॥

दाने देने वाला व्यक्ति सव का प्रिय होता है, जैसे गृष्म काल में वर्षा प्रिय होती है। अनेको प्राणी उनकी संगति करते हैं, जैसे फलवाले वृक्ष का चिड़ियाँ सेवन करती है ॥ २७५ ॥

दाने देने वाले की कीर्ति सर्वत्र फैलती है, तीनों लोकों में शत्रु, मित्र उनका गुणगान करते हैं, जैसे बोधिसत्त्व शशराज ने इन्द्र ब्राह्मण के लिए अपना शरीर का दान कर देने से तथा अरिन्दम राजा के दान से यश का गुणगान किया जाता है ॥ २७६ ॥

दान देने वाला पुरुष जिस परिषद में जाता है विशारद (दक्ष) पुरुष की भाँति जाता है चाहे वह शास्त्रों में श्रम किया हो या न किया हो परिषद् में पण्डित की भाँति सम्मान पाता है ॥ २७७ ॥

जब मरण आसन्न होता है, जरा रोग से पीड़ित तथा दुःखी होता है तो पूर्व कर्मों के शीघ्र शान्त हो जाने के कारण उसे कम दुःख का अनुभव होता है ॥ २७८ ॥

जब महाहिक्कारोग से अत्यन्त पीड़ित होता तो वैद्य निर्दयतापूर्वक उसका उपचार करता है। जिससे उसे जैसे कोई वर्छी चुभो दे जो सन्धियों में (जोड़ो) प्रविष्ट हो अत्यन्त दुःख दे ऐसा उसे अनुभव होता है ॥ २७९ ॥

तब इन्द्रियाँ अशेषतः शिथिल होने लगती है जिससे सर्वत्र अन्धकार सा दीखने लगता है ॥ २८० ॥

महाशोक में पड़े रोते हुए बन्धुओं को छोड़कर खारे जल के गड्ढे में पड़े की भाँति बन्धु शोक से आर्द्र होता है ॥ २८१ ॥

कहीं से त्राण न मिलने के कारण तथा महाभय (मृत्यु) के आ जाने के कारण, महाप्रपात में गिरने की तरह अधिकांश रूप में बुद्धि मन्द हो जाती है ॥ २८२ ॥

तब जिन्होंने पुण्य (कुशल कर्म) नहीं किया है तथा जिन्होंने पुण्य कर्म किया है। उनके पुण्यकर्मों और अपुण्य कर्म क्रमशः उपकार तथा अपकार के रूप में प्रगट होते हैं ॥ २८३ ॥

उस समय जो जो पाप कर्म (अकुशल कर्म) किया है, वे सब पापकर्म उनके मन में उपस्थित होते हैं या मन के सामने लटकता रहता है ॥ २८४ ॥

तदा मुच्छा पिपासा च जरो च अभिवड्ढति ।
पच्छानुतापदुक्खं तं अच्चन्तं अभिमद्दति ॥ २८८ ॥

सोकसल्लेन विद्धो सो पत्तो ब्यसनसागरं ।
समत्थो वा कतत्ताणो चिन्तेति भुसमीदिसं ॥ २८९ ॥

अकतं वत कल्याणं कतं किब्बिसकम्मया ।
अवसो'नुभविस्सामि[1] निरये पापजं फलं ॥ २९० ॥

इच्चेवं विरवन्तो व भीतो उब्बिग्गमानसो ।
सकेन पापकम्मेन फन्दन्तो विवसो'व सो ॥ २९१ ॥

मण्डुको देड्डुभेनेव निरयं नीयति दुम्मति ।
सम्मुळ्हमरणं तस्स नियतं पापकम्मिनो ॥ २९२ ॥

एवं दुरन्तं मरणं सब्बसत्तानुभावियं ।
दुरतिक्कमनं घोरं अवस्सं आगमिस्सति ॥ २९३ ॥

तत्थ दारुणकम्मस्स दुक्खं होति हि ईदिसं ।
अपक्कमति तं दुक्खं दूरतो अकतागसो[2] ॥ २९४ ॥

कतपुञ्ञो पन यदा मच्चुवेगेन अद्दितो ।
तथेव सयितो होति सयेन मारणन्तिके ॥ २९५ ॥

---

1. Ms. अवसो अनुभविस्समि
2. Ms. अकतासतो

तब उस नरकगामी जन्तुओं को वे अनिष्ट निमित्त (अकुशलकर्म) अतिभयंकर दिखाई पड़ते हैं, जैसे नरकपाल, नरकाग्नि, आदि नरक की भयानकता ॥ २८५ ॥

ताम्रवर्ण के आँखवाला, टेढ़ा दाँत वाला, सुनहले दाढ़ी तथा केश वाला, काले वर्ण की आभा से युक्त ब्याध वत यमदूत भयानक दण्डों से युक्त दीखते हैं ॥ २८६ ॥

उसे देखते ही कठोर हृदय यमदूत आते ही कालदण्ड से अत्यन्त व्यथित करते हैं जिससे उसका मन संत्रस्त होता है ॥ २८७ ॥

तदनन्तर मुर्छा, पिपासा और जरा बढ़ती रहती है। और पुनः पश्चाताप जन्य दुःख से अत्यन्त मर्दित एवं पीड़ित होता है ॥ २८८ ॥

शोकवाण से विद्ध पापी दुर्भाग्य सागर में पड़ा ऐसा बार-बार सोचता है कि इस दुःख से कौन बचा सकने में समर्थ है ॥ २८९ ॥

क्योंकि मैंने कुशल और मङ्गलकारी कार्य नहीं किया, जो कुछ भी किया वह कलुषित कर्म ही किया है अतः पराधीन होकर पाप कर्मों का फल नरकलोक में अनुभव करूँगा ॥ २९० ॥

इस प्रकार करुण क्रन्दन करते हुए उद्धंनमन से अपने पापकर्मों के फल को विवश होकर भोगते हैं और छटपटाते हैं ॥ २९१ ॥

उस पापकर्मी का सम्मूल्हमरण नियत होता है। जिस प्रकार पानी का साँप मेढक को पकड़कर अपनी ओर खींचते हैं उसी प्रकार उस दुर्मति का भाग्य नरक की ओर खींच लाता है ॥ २९२ ॥

इस प्रकार के दुरन्त मरण का सभी प्राणी अनुभव करे, और सोचे कि पापकृत्यों के भयानक फल अवश्य ही आयेगा ॥ २९३ ॥

दारुणकर्म करने से इस प्रकार का दुःख होता है ऐसा सोचकर सज्जन पुरुष पापकर्म नहीं करते, जिससे उनका दुःख दूर से ही भाग जाता है ॥ २९४ ॥

कृतपुण्य जब मृत्युवेग से दबाया जाता है तो वह उसी प्रकार मरता है जैसे वह स्वयं सोया हो ॥ २९५ ॥

यानि'स्स तम्हि समये कल्याणानि कतानि हि ।
तानि'स्स तम्हि समये अज्झोलम्बन्ति मानसं ॥ २९६ ॥

तदा यिट्ठनिमित्तानि अनूकूलानि दिस्सरे ।
अग्गयानविमानादि सग्गगामिस्स जन्तुनो ॥ २९७ ॥

अच्छरागणसङ्घुट्ठे अच्छेरसतमण्डिते ।
विमानयाने दिस्वान होति तस्स उदग्गता ॥ २९८ ॥

तदा सो परमस्सासं लभते दायको नरो ।
वज्जित्वा जिण्णकं सालं पासादारोहणो विय ॥ २९९ ॥

सुकतं वत कल्याणं भीरुत्ताणं कतम्मया ।
उळारं अनुभोस्सामि सग्गे कुसलजं फलं ॥ ३०० ॥

इति सो सम्पहट्ठो व अभीतो सम्पमोदितो ।
सकेन पुञ्ञकम्मेन अच्चन्तं उपलालितो ॥ ३०१ ॥

पुञ्ञकम्मरतावासं सग्गं नीयति पण्डितो ।
अमूळ्हमरणं तस्स नियतं पुञ्ञकम्मिनो ॥ ३०२ ॥

तस्माहि दानपतिनो अमूळ्हमरणेन च ।
सन्दिट्ठकफलानीति पञ्च वुत्तानि तादिना ॥ ३०३ ॥

मच्चुनो उग्गदण्डस्स मुखन्तरगतम्पि च ।
यदि तोसेति पुञ्ञं तं अकरोन्तो व वञ्चितो ॥ ३०४ ॥

जो जो कुशलकार्य उसने जीवन में किया है वह उसके मरणासन्नकाल में मन में झूलते रहते हैं[1] ॥ २९६ ॥

तब वह इष्ट निमित्तों के कारण सभी अनुकूल ही देखते हैं, क्योंकि स्वर्ग जाने वाले को श्रेष्ठयान और श्रेष्ठविमान आदि मिलते हैं ॥ २९७ ॥

अप्सरासमूहों से घिरा, सैकड़ों आश्चर्यों से मण्डित उस विमान यान को देखकर उसे अत्यन्त प्रसन्नता होती है ॥ २९८ ॥

तब वह दानी मनुष्य परम आश्वासन को उसी प्रकार प्राप्त करता है, जैसे जीर्ण मकान को छोड़कर कोई प्रासाद पर आरोहण कर रहा हो ॥ २९९ ॥

मैने सुकृत एवं कल्याणकारी कर्म को किया है तथा मैने भयार्त को त्राण दिया है इसलिए कुशलकर्मजन्य फल के कारण मैं स्वर्गलोक में उदार फल का अनुभव करूँगा ॥ ३०० ॥

अपने इस तरह के पुण्यकर्मों के फलस्वरूप वह अत्यन्त सेवित आदरित, निर्भय, सम्प्रहर्षित तथा प्रसन्नचित्तवाला होता है ॥ ३०१ ॥

पुण्यकर्मों में रत रहने वाले पण्डितजन को स्वर्ग की प्राप्ति नियत होती है तथा पुण्यकर्म करने वाले पुरुष को अमूल्हमरण अर्थात् बिना बेहोश हुए ही मरण होता है ॥ ३०२ ॥

इसलिए दानपति का विना बेहोश हुए मरण आदि पाँच सांदृष्टिक फल भगवान् बुद्ध ने बताया है ॥ ३०३ ॥

सामने उपस्थित मृत्यु के उग्रदण्ड से बचने के लिए यदि पुण्यकर्म संतोष देता है तो जो व्यक्ति पुण्यकर्मों को नहीं करता वह उस संतोष से वञ्चित हो जाता है ॥ ३०४ ॥

दान के अनन्त सांदृष्टिक माहात्म्य है पर विनेय्यजनों के लिए यहाँ पाँच ही दिखाए गये हैं ॥ ३०५ ॥

दानी पुरुष दूसरों का विश्वासी, सज्जनों के यश को बढ़ानेवाला कुलों का अलङ्कार तथा प्रशंसा करनेवाले को प्रसन्न करनेवाला होता है ॥ ३०६ ॥

---

1. अकतासतो

संदिट्ठिकानिसंसा हि अनन्ता दानसम्भवा ।
पञ्चेति हि विनेय्यानं वसेन परिदीपितं ॥ ३०५ ॥

परस्स विस्सासनीयो सजनस्स यसावहो ।
कुलालंकारभूतो व संसितानं मुदावहो ॥ ३०६ ॥

नाथभूतो अनाथानं सब्बेसं पीतिवड्ढनो ।
सतञ्च सुखसंवासो सततं होति दायको ॥ ३०७ ॥

सेट्ठोति सम्मतो होति दुट्ठेहि च अधंसियो ।
इट्ठदो ति मुदा लोको पहट्ठो तं उदिक्खति ॥ ३०८ ॥

यं यं दिसं दानपति रित्तहत्थो व गच्छति ।
साभिसङ्खारिका तस्स सुलभा होति पच्चया ॥ ३०९ ॥

बहुसाधारणा भोगा सब्बवेरभयावहा ।
मया अवेरसुखदा असाधारणका कता ॥ ३१० ॥

महानिधानं निहितं अक्खयं अनुगामियं ।
अविलोपियमञ्ञेहि अनन्तसुखदायकं ॥ ३११ ॥

आपदासु सहायो मे अभेज्जो अप्पदुस्सियो ।
गुणड्ढो अनुकुलो च गहितो सब्बदा हितो ॥ ३१२ ॥

सग्गुणोजोहरो चोरो हतो मच्छेररक्खसो ।
इस्सापिसाचो विहतो अस्सासो परमो कतो ॥ ३१३ ॥

दान देने वाला व्यक्ति हमेशा अनाथों का नाथ, सबों के साथ प्रेम बढ़ाने वाला तथा सज्जनों के साथ सुख से रहने वाला होता है ॥ ३०७ ॥

यह श्रेष्ठ है ऐसा सब मानते हैं, दुष्टों के द्वारा नष्ट नहीं होता, इच्छानुकूल देने वाला समझकर लोक में सभी प्रसन्नता से उसे देखते हैं ॥ ३०८ ॥

जिस जिस दिशा में दानपति जाता है खाली हाथ ही जाता है पर संस्कार के कारण उसके लिए सभी प्रत्यय (भोजन, शयनासन आदि) सर्वदा सुलभ होते हैं ॥ ३०९ ॥

अत्यन्त साधारण भोग (ऐश्वर्य) सर्वत्र वैर और भय की ओर ले जाने वाला है। पर मैंने अवैर सुख देने योग्य उसे असाधारण बना दिया ॥ ३१० ॥

दानफल रूप महाकोष जो अक्षय और इच्छानुकूल है वह मेरे पास है जो दूसरों के लिए भी सुलभ है तथा अनन्त सुखों को देने वाला है ॥ ३११ ॥

दान आपदाओं में मेरा मित्र है, जिसे बाँटा नहीं जा सकता तथा दोष रहित है। गुणों का समूह, कुल के अनुकूल और सर्वदा हित सुखसाधक है ॥ ३१२ ॥

सद्गुणरूप बल को हरण करने वाले चोर तथा मात्सर्य रूप (कंजूसी) राक्षस को मारने वाला है, इर्ष्या पिशाच को नष्ट करने वाला तथा परम आश्वस्त करने वाला है ॥ ३१३ ॥

लोभ के फन्दे समूलतः छिन्न हो गये। द्वेषशत्रु विनष्ट कर दिये गये तथा हितों को छिपानेवाला स्थूल (कठोर) मोह जाल समाप्त हो गया ॥ ३१४ ॥

मेरी दान रूपी सम्पत्ति ने अनाथों के लिए कृपणता को मार दिया, औरं भयानक संसारसागर के लिए दान सम्पत्ति ने द्वीप (विश्रामस्थल) बना दिया ॥ ३१५ ॥

सुन्दर तरह से रखा गया दान का मूल्य बढ़ गया क्योंकि मैं महान् कुल में प्रतिष्ठित हो गया। परलोक में भी मैं अनन्त धन वाला होउँगा ॥ ३१६ ॥

असारतरभोगों से अलग होकर दूसरों को श्रेष्ठ-वस्तुओं का दान किया है जिससे स्वर्ग का सोपान बना लिया और स्थिर होकर सुखपूर्वक स्वर्गारोहण करूँगा ॥ ३१७ ॥

लोभपासो समुच्छिन्नो दोससत्तु विनासितो ।
हितावगुण्ठनं थूलं मोहजालं विघाटितं ॥ ३१४ ॥

अनाथानं कपणता हता सम्पत्तिया मम ।
परिग्गहकतो दीपो भीमे संसारसागरे ॥ ३१५ ॥

वड्ढिमूलं सुनिक्खित्तं पटिग्गाह महाकुले ।
अड्ढता हि अनन्ता में परलोके भविस्सति ॥ ३१६ ॥

असारतरभोगेहि सारादानं परं कतं ।
कतं सग्गस्स सोपानं सुखारोहं अचञ्चलं ॥ ३१७ ॥

वीरसत्ता अनुगता मारसत्तु विनिज्जितो ।
सब्बसम्पत्तिबीजं मे रोपितं नानुपोसियं ॥ ३१८ ॥

निप्फादितो भद्दघटो पत्थितत्थोपदायको ।
वञ्चिता नासमूला मे सञ्चिता गुणसम्पदा ॥ ३१९ ॥

साधूहि सक्कतो जातो साधूनं उपनिस्सयो ।
साधूनं या गति सा मे इच्छामत्तोपसाधिया ॥ ३२० ॥

दुग्गतियो पिदहिता अग्गं पुञ्ञं विसोधितं ।
मग्गनावाय पट्ठानं ठपितं उजुकं थिरं ॥ ३२१ ॥

सब्बानत्थावहे अत्थे अत्थिकानं ददं अहं ।
आनिसंसोदधिप्पत्तो सफलं जीवितं मम ॥ ३२२ ॥

पूर्ण रूप से वीर प्राणियों का अनुगामी हो गया, मारशत्रु को जीत लिया, क्योंकि दान फल रूपी सभी सम्पत्तियों का बीज मैंने लगया है, और उसका अच्छी तरह पोषण किया है ॥ ३१८ ॥

भद्रघट मैंने निष्पन्न कर लिया जो मनोवाँञ्छित फल को देनेवाला है, नाशमूलों (अकुशलमूल) से पृथक् हो गया तथा गुणसम्पत्तियों को हमने संञ्चित किया है ॥ ३१९ ॥

सज्जनों के द्वारा सत्कृत हुआ, साधुओं का आश्रय मिला सज्जनों को जो सद्गति मिलती है वह मेरे इच्छामात्र से सुलभ हो गया ॥ ३२० ॥

दुर्गतियाँ रोक दी गई, श्रेष्ठ पुण्य का विशोधन कर लिया गया। आर्य-अष्टाङ्गिकमार्गरूपी नाव से प्रस्थान किया है, जो स्थिर और सीधा स्थित है ॥ ३२१ ॥

सभी अनर्थों की ओर ले जानेवाले अर्थ को मैंने धन के इच्छुक व्यक्ति को दान कर दिया, फलतः दान के माहात्म्य रूप महोदधि को प्राप्त कर मैंने जीवन को सफल बना लिया ॥ ३२२ ॥

अपनी त्याग सम्पदा (दान सम्पत्ति) का इस प्रकार स्मरण करता हुआ अतिहर्षित प्रहर्षित और उदग्र भाव से युक्त हो दायक (दानी) सदा जीता है ॥ ३२३ ॥

आये हुए दीन याचक को दानपति जो दान देता है। उससे दान ग्रहण करने वाले को प्रहर्षित देखता है। इसके बढ़कर उस दानी के लिये और क्या विपुल फल हो सकता है। अर्थात् कुछ नहीं ॥ ३२४ ॥

दीन जनों को दान देकर मनोरथ की सिद्धि से संतुष्ट दानी का मुख प्रफुल्ल कमल की भाँति अत्यन्त दर्शनीय तथा मनोरम हो जाता है ॥ ३२५ ॥

उसके साधारण सुख को देखकर दाता दान के गुणों का अनुभव करता है। यह सब दान का महान् फल पर्याप्त है। इसके समान पारलौकिक सुख भी नहीं है ॥ ३२६ ॥

इस प्रकार संदृष्टिक दान का फल अनन्त है। जो परलोक में भी फलदायी है उस दान के महत्व का अवगाहन करने में कौन समर्थ है ॥ ३२७ ॥

इच्चेवं सरमानो सो अत्तनो चागसम्पदं ।
अतिहट्ठो उदग्गो व सदा जीवति दायको ॥ ३२३ ॥

यं हि दानपति दीनं याचकं समुपागतं ।
लद्धत्थं पस्सति हट्ठं ततो किं विपुलं फलं ॥ ३२४ ॥

दीनस्स दानमासज्ज तुट्ठं इट्ठत्थसिद्धिया ।
सुफुल्लकमलोभासं दस्सनीयतरम्मुखं ॥ ३२५ ॥

दाता दिस्वानुभवति लद्धा साधारणं सुखं ।
अलं दानफलं एतं नोचे पि परलोकियं ॥ ३२६ ॥

सन्दिट्ठिकं दानफलं अनन्तं एवमादिकं ।
परलोक फलन्तस्स को समत्थो व गाहितुं ॥ ३२७ ॥

अग्गं सङ्गहवत्थूनं मग्गं सग्गस्स अञ्जसं ।
पारमीनञ्चाथग्गञ्च दानं भोगग्गदायकं ॥ ३२८ ॥

इट्ठत्थसाधकतया दानं भद्दघटोपमं ।
परलोकफलन्तस्स कथं वण्णेय्य मादिसो ॥ ३२९ ॥

महाकारुणिकेनेव मंसनेत्तादि-दायिना ।
महाफलत्तं दानस्स सुत्तन्तेसु विभावितं ॥ ३३० ॥

एवं महागुणं दानं देय्यधम्मे स याचके ।
विज्जमाने अदेन्तो हि धुवं भवति वञ्चितो ॥ ३३१ ॥

दान संग्रहवस्तुओं में श्रेष्ठ है। स्वर्ग का सीधा मार्ग है। पारमिताओं में सर्वप्रथम तथा अग्र है तथा दान श्रेष्ठभोग प्रदान करने वाला है ॥ ३२८ ॥

इष्ट की सिद्धि में दान भद्रघट के समान है, जो परलोक में भी फलता रहता है। उस दान के महत्त्व का वर्णन मेरे समान साधारण लोग कैसे कर सकते हैं ॥ ३२९ ॥

मासं एवं चक्षु तक दान कर देने वाले महाकारुणिक भगवान् बुद्ध ने दान के महान् फल को बताया है जो सुत्तपिटक में सुविचारित एवं सुस्पष्ट है ॥ ३३० ॥

दान का इस प्रकार महान् गुण है ऐसा जानकर भी याचक को प्राप्तकर तथा दानवस्तु के रहते हुए भी यदि दान नहीं करता है तो निश्चित ही वह उस दान के महान फल से वञ्चित रह जाता है ॥ ३३१ ॥

फल की इच्छा से दिया गया दान वाणिज्य कर्म की तरह घृणित एवं तुच्छ है तथा सभी प्रकार से अपरामृष्ट फल की इच्छा से रहित दान विशिष्ट दान है ऐसा बताया गया है ॥ ३३२ ॥

संसार में भोग्यवस्तु की प्राप्ति के लिए जो दान है अथवा मिथ्यादृष्टि आदि से युक्त जो आमृष्ट दान है उसे परामृष्ट दान कहते हैं तथा इसके विपरीत अपरामृष्ट दान है ॥ ३३३ ॥

याचकों के लिए करुणा से युक्त हो अथवा संसार से निस्तरण के लिए बोधिसत्त्व जो दान देते हैं वह विशिष्ट दान है ॥ ३३४ ॥

भवभोग के लिए दिया गया दान हीनदान है; अपने सुख के लिए दिया गया दान मध्यम है तथा सभी प्राणियों के हित के लिए दिया गया दान उत्तमदान है जो सभी दुःखों से मुक्त करने वाला होता है ॥ ३३५ ॥

जो दान देते हैं वे धीर पुरुष आलस्य रहित होते हैं। इसलिए साधु पुरुष उत्तम विधि से दान देते हैं। यतः धीर पुरुष आलस्यरहित होकर दान देते हैं इसलिए सज्जन पुरुष को चाहिए कि उत्तम विधि से दान देते रहें ॥ ३३६ ॥

दान के शुभ परिणाम की गाथा समाप्त ।

दिन्नं फलत्थिना दानं वणिज्जं व जिगुच्छियं ।
सब्बथा अपरामट्ठं विसिट्ठन्ति पदीपितं ॥ ३३२ ॥

भवभोग विसेसत्थमामट्ठदिट्ठि-आदिहि ।
यं दानं तं परामट्ठं अनामट्ठं विपरियये ॥ ३३३ ॥

अत्थिकानं करुणया भवनित्थरणत्थिना ।
बोधिसत्तेन यं दानं दीयते तं विसिट्ठकं ॥ ३३४ ॥

भवभोगत्थिको हीनो मज्झो अत्तसुखत्थिको ।
उत्तमो सब्बसत्तानं दुक्खूपसमनत्थिको ॥ ३३५ ॥

यतो ददाति दानानि तस्मा धीरा अतन्दिता ।
उत्तमेनेव विधिना देन्ति दानानि साधवो ॥ ३३६ ॥

८. सीलानिसंस-गाथा

दानानिसंसा ये वुत्ता निस्सेसा सीलतो पि च ।
भवन्ति अधिका चापि अनन्ता सीलसम्भवा ॥ ३३७ ॥

सत्तानन्त्वप्पमेय्यानं दुस्सीला विरतो जनो ।
अवेरं अभयञ्चापि अब्यापज्झ सुखम्पि च ॥ ३३८ ॥

ददाति दत्वा पच्छा सो अवेरं अभयम्पि च ।
अब्यापज्झसुखञ्चापि लभतीति जिनो ब्रवि ॥ ३३९ ॥

८. सीलानिसंस गाथा

शील के शुभ परिणाम की गाथा

ऊपर दान के शुभ परिणामों का वर्णन अशेषतः किया गया है, उससे भी अधिक शील के अनन्त शुभ परिणाम होते हैं जो शीलपालन से ही सम्भव है ॥ ३३७ ॥

अप्रमेय सत्त्वों में से जो प्राणी दुःशील से विरत रहते हैं वे वैररहित, भयरहित, द्वेषरहित, रोषरहित हो सुख को प्राप्त करते हैं ॥ ३३८ ॥

जो दान देता हैं वह वैररहित, भयरहित, द्वेषरहित हो सुख को प्राप्त करता है ऐसा भगवान् बुद्ध ने कहा है ॥ ३३९ ॥

ऊपर कथित दान के शुभ परिणामों से तथा शीलसम्पत्ति के पालन से वैसा होता है ऐसा सूक्ति से तथा युक्ति से जानें ॥ ३४० ॥

शिक्षापदों के अतिक्रमण से, इन्द्रियों के असंवर से तथा मिथ्या आजीविका के उपभोग से विरत रहना, चार प्रकार की विरति बताई गई है ॥ ३४१ ॥

शील चार प्रकार के हैं प्रातिमोक्षसंवरशील, इन्द्रिय-संवरशील, आजीवपारि-शुद्धिशील तथा प्रत्ययसन्निश्रित शील ॥ ३४२ ॥

श्रद्धा, स्मृति, वीर्य (उत्साह) और प्रज्ञा का अनुपालन करते हुए इन चारों शील को शीर्ष बनाकर शील की रक्षा करनी चाहिए ॥ ३४३ ॥

सम्बोधि के अनन्तर दूसरों के हिताहित को विचार कर तथा जानकर, विनय आदि के विशारद भगवान् बुद्ध ने ऐसा कहा है ॥ ३४४ ॥

वही सर्वज्ञ भगवान् जो सर्वदा दूसरों पर करुणा करते हैं, सत्यवादी अतुल्य अद्भुत तथा सद्‌गुणों के समूह हैं ॥ ३४५ ॥

उन्होंने जानकर बतलाया है कि छोटे एवं बड़े दोषों में भय देखते हुए जीवन के चले जाने पर भी शील की सीमा का अतिक्रमण नहीं करना चाहिए ॥ ३४६ ॥

मार्गस्वामी (भगवान् बुद्ध) की आज्ञा है कि विद्वान् पुरुष अणुमात्र दोष न करें। शील महामेरु के समान दुरक्षेप है ऐसा जानकर शील की रक्षा करनी चाहिए ॥ ३४७ ॥

वुत्तादानानिसंसाहि सीलसम्पत्तिया पि च ।
होन्ति एवेति विञ्ञेय्या अनयासुत्तियुत्तिया ॥ ३४० ॥

सिक्खापदातिक्कमतो इन्द्रियानं अगुत्तितो ।
मिच्छाजीवोपभोगा च विरतीहि चतुब्बिधा ॥ ३४१ ॥

सीलं चतुब्बिधं पातिमोक्खो इन्द्रियसंवरो ।
आजीवपारिसुद्धी च सीलं पच्चयनिस्सितं ॥ ३४२ ॥

सद्धा सति च विरियं पञ्ञा च अनुपुब्बतो ।
चतुब्बिधधुरेनेव तं सीलं परिरक्खियं ॥ ३४३ ॥

पणिधानम्हि पट्ठाय यो परेसं हिताहितं ।
विचेय्य ञत्वा अक्खासि विनयादि विनायको ॥ ३४४ ॥

सब्बञ्ञू सो हि भगवा सब्बदा करुणापरो ।
अवञ्झवादी अतुलो अब्भुतोरुगुणाकरो ॥ ३४५ ॥

तेन ञत्वा पटिक्खित्तं यं अनुं थूलमेव वा ।
अनतिक्कमनीयन्तं जीवितातिक्कमे पि च ॥ ३४६ ॥

आणा हि मग्गसामिस्स अनुमत्ता पि विञ्ञुना ।
महामेरुदुरुक्खेपा इति दिस्वा पि रक्खिया ॥ ३४७ ॥

अतिक्कमित्वा वचनं खुद्ददेसिस्सरस्स च ।
दुक्खं पप्पोति चे किन्नु सब्बलोकिस्सरस्स तं ॥ ३४८ ॥

भगवान् बुद्ध के वचन का अतिक्रमण कर यदि क्षुद्र (छोटे) शिक्षापदों को भी छोड़ता है तो दुःख पाता है, सभी लोकों में ऐश्वर्यवान् भगवान् बुद्ध के वचन का इसमें क्या दोष है ॥ ३४८ ॥

मुनीन्द्र (भगवान् बुद्ध) की आज्ञा का अतिक्रमण कर कुशाग्र मात्र भी शिक्षापदों के त्याग करने से जो दुःख प्राप्त होता है उसको इस प्रकार दिखाया जायेगा ॥ ३४९ ॥

सभी प्राणियों के दोषों को विनय मार्ग के विशेषज्ञ भगवान् बुद्ध ही जानते हैं, मैं कुछ भी नहीं जानता हूँ ॥ ३५० ॥

कौमार भृत्य के तरह वे वैद्य हैं जो बालकों के (मूढ़) हिताहित को जानते हैं, जिस प्रकार कोई मूर्ख व्यक्ति रोग निदान नहीं जानता है उसी प्रकार विनय के ज्ञान में मैं हूँ ॥ ३५१ ॥

(जैसे वैद्य रोग का कारण निदान जानता है उसी प्रकार भगवान् बुद्ध विनय के मर्मज्ञ हैं; मेरी स्थिति बालक के समान है जो हिताहित समझने में असमर्थ हैं)।

चाहे अग्नि में कूदना हो या पर्वत शिखर से गिरना हो तो भी ज्ञानी बुद्ध द्वारा उपदेशित मार्ग पर चलना चाहिए ॥ ३५२ ॥

(यदि ज्ञानी बुद्ध कहते हैं कि अग्नि में छलांग लगाओ अथवा पर्वत शिखर से गिरो तो भी वही करें जो वो कहते हैं)

शील का अतिक्रमण अपने जीवन की रक्षा के लिए भी नहीं करनी चाहिए ऐसा शास्ता ने कहा है। जिस प्रकार जल प्रपात वाले मार्ग को दूर से ही त्याग करता है उसी प्रकार दुःशील का दूर से ही त्याग कर देना चाहिए ॥ ३५३ ॥

इस प्रकार प्रातिमोक्ष संवरशील श्रद्धा से सम्यक् प्रकार से ग्रहण कर शास्ता के आज्ञानुसार आत्मसात् करना चाहिए। और शास्ता के शासन के अनुरूप प्रातिमोक्ष संवरशील का पालन करना चाहिए ॥ ३५४ ॥

इस प्रकार श्रद्धा को केन्द्र बनाकर रक्षित प्रातिमोक्षसंवरशील अनन्त फल को देनेवाला होता है तथा वह जिन-सम्मान से मण्डित होता है। बुद्ध श्रावक ऐसा करके गौरव प्राप्त करता है ॥ ३५५ ॥

छः द्वारों के आपाथ (क्षेत्र) में जब उनके विषय उपस्थित हों तो पण्डितजन स्मृति को द्वारापाल की भाँति उपस्थापित रखें तथा जागरूक रहते हुए उन विषयों से सावधान रहें ॥ ३५६ ॥

मुनिन्दाणमतिक्कम्म कुसग्गच्छेदमत्ततो ।
एरपत्तेन यं लद्धं तदिदं दीपयिस्सति ॥ ३४९ ॥

सब्बेसं सत्तदोसानं विनयोपायकोविदो ।
सो व सत्था पजानाति नाहं जानामि किञ्चनं ॥ ३५० ॥

वेज्जो कोमारभच्चो व बालकानं हिताहितं ।
जानन्ति न तु बाला ते एवरूपा मयं इध ॥ ३५१ ॥

अग्गिं पक्खन्द अथवा पब्बतग्गा पतेति वा ।
यदि वक्खति कत्तब्बं ञातकारीहि सो जिनो ॥ ३५२ ॥

अनतिक्कमनीयन्ति यं वुत्तं तेन सत्थुना ।
जीवकामो पपातं व आरका तं विवज्जये ॥ ३५३ ॥

इच्चेवं सद्धया साधु पटिच्छित्वान मुद्धना ।
यथाणत्तिवसेनेव कत्तब्बं सत्थु सासनं ॥ ३५४ ॥

एवं सद्धाधुरेनेव पातिमोक्खं हि रक्खितं ।
अनन्त फलदं होति जिनसम्मानमण्डितं ॥ ३५५ ॥

छसु द्वारेसु अत्थानं आपाथागमने सती ।
सति दोवारिकं तत्थ उपट्ठापेय्य पण्डितो ॥ ३५६ ॥

ते किलेसमहाचोरा आलम्बनवनासया ।
न धंसेन्ति मनोगेहं सतारक्खे उपट्ठिते ॥ ३५७ ॥

(चक्षुःद्वार, श्रोत्रद्वार, घ्राणद्वार, जिह्वाद्वार, कायद्वार, और मनोद्वार ये छः द्वार हैं तथा रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्पर्श तथा धर्म ये छ अर्थ अर्थात् इनके विषय हैं। जब इन द्वारों पर विषय उपस्थित हो तो पण्डित जन को सदा इनके प्रति जागरुक और सतर्क रहना चाहिए।)

आलम्बन[1]रूपी वन में निवास करने वाले वे क्लेश[2]—महाचोर उपस्थित स्मृति द्वारा रक्षित होने के कारण मन रूपी गृह में प्रवेश नहीं करते ॥ ३५७ ॥

दृष्ट दृष्ट मात्र हो इससे ऊपर विचार नहीं करना चाहिए क्योंकि अभूत (अतथ्य) संकल्प के बल से मूर्ख व्यक्ति वानर की भाँति नष्ट हो जाता है ॥ ३५८ ॥

(देखना देखना मात्र हो सुनना सुननामात्र। इससे बढ़कर रूपादि आलम्बनों पर विचार नहीं करना चाहिए क्योंकि रूप निमित्त और अनुब्यञ्जन का ग्रहण करने से रूपादि के प्रति लोभ, मोहादि अकुशल हमारे चक्षुरिन्द्रिय को अकुशल बना देते हैं जिससे अनेक इच्छाएं उत्पन्न हो जाती हैं जिसके कारण अनेक असत्य संकल्पों का उदय हो जाता है और यदि वे संकल्प पूर्ण नहीं होते तो मूर्खव्यक्ति वानर की भाँति नष्ट हो जाताहै।) जैसे वानर लोभ के वशीभूत हो शिकारी के जाल में फंसकर नष्ट हो जाता है।

अपवित्र शरीर पिण्ड के वर्णमात्र को देखकर मूर्खव्यक्ति मोह में पड़ जाता है पर उसमें कुछ भी सादृश को न प्राप्त कर कमल आदि की योजना करते हैं कि उसका मुख कमल सदृश है आदि ॥ ३५९ ॥

वह सोचता है स्तन स्वर्ण घट के समान उन्नत है, मुख प्रफुल्ल कमल के समान है, नेत्र नीलकमल के समान है तथा दाँत मुक्तामणि को लज्जित कर रहा है ॥ ३६० ॥

अङ्ग सुन्दर और सुडौल है जो काम के सङ्ग को बढ़ानेवाला (कामोद्रेक करने वाला) है; इस तरह अनेक प्रकार से तर्क वितर्क करता हुआ अपने चित्त को दूषित करता है ॥ ३६१ ॥

इस प्रकार सोचता हुआ मनुष्य मोह के वशीभूत तथा आसक्तिजाल से वेष्ठित हो घोर दुःख तथा दुर्भाग्य को प्राप्त करता है ॥ ३६२ ॥

---

1. आलम्बन छः हैं-रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्पृष्टव्य, एवं धर्मालम्बन इसे जंगल कहा गया है।
2. क्लेश दस हैं–लोभ, द्वेष, मोह, मान, दिट्ठि, विचिकित्सा, स्त्यान, औद्धत्य, आह्रीक्य, एवं अनपत्राप्य।
द्र. अ. स पृ. ७५२।

अलन्दिट्ठम्हि दिट्ठं व तदुद्धं न विकप्पियं ।
अभूतसङ्कप्पबला बाला नट्ठा हरी विय ॥ ३५८ ॥

दिस्वा असुचिपिण्डस्स वण्णमत्त व बालिया ।
अलद्धा सादिसं किञ्चि योजेन्ति पदुमादिहि ॥ ३५९ ॥

थनं सोण्णसमुग्गाहं मुखं फुल्लम्बुजोपमं ।
नेत्ता नीलम्बुजनिभा मुत्ता दन्तेहि निज्जिता ॥ ३६० ॥

अङ्गं अनिन्दितङ्गाय अनङ्गासङ्गवड्ढनं ।
इच्चेवमादिचिन्तेन्ता चित्तं दूसेन्ति अत्तनो ॥ ३६१ ॥

ततो मोहवसेनेत्थ सङ्गपासेन वेठिता ।
अनयब्यसनं घोरं पप्पोन्ति परिकप्पिता ॥ ३६२ ॥

अमेज्झपोत्थकाकारं तनुच्छविविमोहिता ।
देहं सभावतो दट्ठुं न सक्कोन्ति पुथुज्जना ॥ ३६३ ॥

इन्द्रियानि किलेसेन्ति दोसे संरक्खितुं परे ।
इन्द्रियत्थेसु सङ्गन्तु वारेन्ति जिनसावका ॥ ३६४ ॥

सतारक्खो हि समणो इन्द्रियिन्द्रियगोचरे ।
अनिच्चादिं विपस्सन्तो सज्जनीयं न पस्सति ॥ ३६५ ॥

इन्द्रियस्सेहि दुन्नीतो दूरतो हितमग्गतो ।
अपविद्धो जनो लोके सदेवासुररक्खसो ॥ ३६६ ॥

वीर्य से बने लोथड़ा में शरीर छवि से विमोहित पृथक्-जन देह के स्वभाव को देखने में समर्थ नहीं हो सकते ॥ ३६३ ॥

द्वेष करने से इन्द्रियां दोषयुक्त हो जाती हैं। अतः द्वेष से बचना चाहिए।

इसलिए बुद्धश्रावक इन्द्रियों और विषयों की आसक्ति से विरत रहते हैं ॥ ३६४ ॥

इन्द्रिय और विषयों (रूपादि) के प्रति सदा जागरूक तथा सम्यक् स्मृति के द्वारा रक्षित श्रमण अनित्य, अनात्म एवं दुःख की विपश्यना करते हुए सांसारिक वस्तुओं को आसक्ति योग्य नहीं देखते हैं ॥ ३६५ ॥

इन्द्रिय रूपी अश्वों द्वारा अनुचित ढंग से ले जाया गया मनुष्य लोक में हित मार्ग से अलग रह जाता है तथा देवता सहित असुर और राक्षसों द्वारा भी त्याग दिया जाता है ॥ ३६६ ॥

इन्द्रिय रूपी उन दुष्ट अश्वों को जो अत्यन्त दुर्दमनीय हैं स्मृति रूपी यन्त्र (खूँटे) में बाँधकर प्रज्ञा रूपी चावुक से सही मार्ग पर लगाते हैं क्योंकि श्रमणों के लिए स्मृति ही पैत्रिक सम्पत्ति है ॥ ३६७ ॥

काया, वेदना, चित्त तथा धर्मों में अशुभादि की भावना करनी चाहिए तथा इनका यथातथ्य अवलोकन करना चाहिए इसे ही स्मृतिगोचर कहा जाता है ॥ ३६८ ॥

बुद्धश्रावक जिन जिन आलम्बन (विषयों) को जानना चाहते हैं, उन-उन विषयों के बारे में स्मृति के द्वारा जागरूक एवं सावधान होने के बाद विपश्यना कर अपने मन को उस विषय में लगाते हैं ॥ ३६९ ॥

ऐसे स्मृतिपरायन, जिनका द्वेष नष्टप्रत्यय हो गये हैं। वे चित्ताग्नि तथा नरकाग्नि में नहीं डूबते। वरन् संसार में रहते हुए भी संसार से उसी प्रकार अलग रहते हैं जैसे जल में कमल ॥ ३७० ॥

इसलिए सम्यक्सम्बुद्धश्रावक स्मृति को केन्द्र में रखकर निःसंग हो इन्द्रिय-संवरशील को पूर्ण करते हैं। अर्थात् सम्यक् स्मृति के द्वारा इन्द्रिय संवरशील को पूर्ण करते हैं ॥ ३७१ ॥

बन्धुओं के स्नेहाबन्धन में आबद्ध होने पर भी श्रद्धा से युक्त हो उन स्नेहबन्धनों को छोड़कर जिन शासन में दुर्लभ प्रव्रज्या ग्रहण करते हैं ॥ ३७२ ॥

सतियन्तम्हि बन्धित्वा ते दुट्ठस्से सुदुद्दमे ।
पञ्ञापतोदा सारेन्ति समणा सतिगोचरे ॥ ३६७ ॥

सरीरवेदनाचित्त धम्मेसु असुभादिका ।
पस्सितब्बा यथातच्छं वुत्ता'व सतिगोचरा ॥ ३६८ ॥

यं यं आलम्बनं ञातुं इच्छन्ति जिनसावका ।
सतिया तं विपस्सित्वा पच्छा पेसेन्ति ते मनो ॥ ३६९ ॥

एवं सतिपरानन्तु दोसा विच्छिन्नपच्चया ।
नावगाहन्ति चित्तग्गिं नरकग्गिं व नीरजा ॥ ३७० ॥

तस्मा सतिधुरेनेव सम्मासम्बुद्धसावका ।
परिपूरेन्ति निस्सङ्गा सीलं इन्द्रियसम्वरं ॥ ३७१ ॥

सिनेहाबद्धहदये बन्धवे पि च सद्धया ।
पहाय पब्बजित्वान दुल्लभे जिनसासने ॥ ३७२ ॥

सम्माजीवमतिक्कम्म सब्बसाधुनिसेवितं ।
मिच्छाजीवेन जीवेय्य यदि कुच्छिस्स कारणा ॥ ३७३ ॥

किञ्च गेहे परिच्चत्तं आमिसं आमिसत्थिना ।
को वा तेन गुणो लद्धो इध वा मुण्डियं विना ॥ ३७४ ॥

कुहनादीहि वत्थूहि गहट्ठे उपलालिय ।
लद्धलाभेन आजीवो मिच्छाजीवो ति वेदियो ॥ ३७५ ॥

सभी सत्पुरुषों द्वारा निसेवित सम्यक् आजीविका का अतिक्रमण कर यदि उदर भरने के लिए मिथ्या आजीविका द्वारा जीवन यापन करते हैं तो वे शीलभ्रष्ट हो जाते हैं ॥ ३७३ ॥

भोजन की इच्छा रखने वाले यदि घर में भोजन का परित्याग करे तो इससे क्या? इस संसार में श्रमण के बिना कौन हो सकता है जो त्याग के गुणों से युक्त हो तथा शुद्ध आजीविका के द्वारा जीवन यापन कर सके ॥ ३७४ ॥

ढोंग, लोभ एवं लालच आदि से ठगी गई वस्तुओं तथा गृहस्थों द्वारा परिपोषित वस्तुओं से प्राप्त लाभ से युक्त आजीविका को मिथ्या आजीविका कहते हैं ॥ ३७५ ॥

सम्यक् आजीविका की प्रतिज्ञा कर मिथ्या आजीविका से जीवनयापन करता है वह श्रमणधर्म के विरुद्ध तो है ही गृहस्थ धर्म से भी निकाल देने योग्य है ॥ ३७६ ॥

जो आजीवपारिशुद्धशील से युक्त हैं जो सम्यक् आजीविका के द्वारा विशुद्ध है उनको इस लोक तथा परलोक दोनों में सभी प्रत्यय (भोजन, वस्त्र, आसन एवं भैषज्य) सुलभ होते हैं इसमें कोई सन्देह नहीं ॥ ३७७ ॥

जो शुद्ध भोजन को छोड़कर अशुद्ध आजीविका के द्वारा जीवनयापन करते हैं उनका चित्त सर्वदा हीन संकल्पों की ओर ही झुकता है जैसे सुअर हमेशा अशुद्ध स्थान की ओर ही भोजन के लिए जाता है ॥ ३७८ ॥

गलाग्र तक प्राप्ति मात्र से जो कुत्ते के समान इधर-उधर भ्रमण करेगा। उसके लिए कौन अपनी आजीविका को दूषित करेगा ॥ ३७९ ॥

अपनी आँखों को नीचे की ओर करते हुए, जाने वाले के समान अपने को स्थापित करते हुए, अदन्त होने पर भी अपने को दमन किए हुए के समान आकृतियाँ बनाते हैं मानो वह नट हो ॥ ३८० ॥

यह अच्छा होगा कि कसाई के तीक्ष्ण छूरे से अपना उदर फाड़ दें पर यह अच्छा नहीं कि जानते हुए लाभ को प्राप्त कर अपने पेट को भरें ॥ ३८१ ॥

उस निर्लज्जराज के जिसके असद्गुण प्रकाशित हो रहे हैं। उस चोर की जीविका की निन्दा कौन नहीं करता। अर्थात् उसकी निन्दा सभी करते हैं ॥ ३८२॥

वह विशुद्ध संघ की अग्नि की उष्मा को कैसे सह सकता है, जिस तरह मोमसमूह अग्निशिखा से स्वयं विलीन हो जाता है, उसी प्रकार संघ में उसकी स्थिति को जानना चाहिए ॥ ३८३ ॥

सम्माजीवं पटिञ्ञाय मिच्छाजीवेन जीवति ।
यो सो समणधम्मा च गिहीधम्मा च बाहिरो ॥ ३७६ ॥

सम्माजीवविसुद्धस्स इहलोके परत्थ च ।
सुलभा पच्चया होन्ति इति तेन किमस्सुतं ॥ ३७७ ॥

वराहो वासुचिट्ठाने छड्डेत्वा सुद्धभोजनं ।
हीनाधिमुत्तितो तस्स चित्तं धावति वा सदा ॥ ३७८ ॥

गलग्गप्पत्तिमत्तेन यं सुवावन्तसादिसं ।
भविस्सति तदत्थं को आजीवं दूसयिस्सति ॥ ३७९ ॥

अधोक्खिपन्तो अक्खीनि सण्ठापेन्तो गतादिकं ।
अदन्तो दन्तरूपानि करोन्तो किन्नटो न सो ॥ ३८० ॥

तिण्हेन गोविकत्तेन वरं कुच्छिविदारितो ।
अञ्ञाय लद्धलाभेन न तु कुच्छिविपूरितो ॥ ३८१ ॥

तस्स निल्लज्जराजस्स असग्गुणविभाविनो ।
अथवा चोरजेट्ठस्स गरहे को न जीविकं ॥ ३८२ ॥

विसुद्धं सो हि सङ्गिं कथं नामावगाहति ।
सित्थपोत्थकरूपो व कथं वा न विलीयति ॥ ३८३ ॥

सहत्थपादो एवाहं सिरी उस्साहलब्भिया ।
किमत्थं दूसयिस्सामि इसिवेसं दुरासदं ॥ ३८४ ॥

हस्त पाद से युक्त मैं श्री और उत्साह लाभ के लिए कठिनाई से प्राप्त ऋषिवेष को किसलिए दूषित करूँगा ॥ ३८४ ॥

जिस जिस उपाय से जहाँ तहाँ जीने के लिए अपने मन को लगाता है तो उसका एक चित्त भी पुण्यफल देने वाला नहीं हो सकता ॥ ३८५ ॥

जो मिथ्या आजीविका के आधार पर जीता है, वह निर्वाणगामी श्रेष्ठ मार्ग को नहीं पा सकता इसमें कोई सन्देह नहीं ॥ ३८६ ॥

लज्जावान प्राणी अधमोचित मिथ्या आजीविका से कैसे जी सकता है, क्योंकि वह दूसरों के द्वारा भी तिरस्कृत होता है ॥ ३८७ ॥

तृणखाने वाले को भी भूख मिट जाती है पर बाघ भूखा रहते हुए भी तृण नहीं खाता अपितु मांस ही खाता है; उसी प्रकार श्रमण मिथ्या आजीविका को तृणवत् समझ कर सम्यक् आजीविका से ही जीवनयापन करते हैं। (भूखा मरना अच्छा है पर मिथ्या आजीविका से जीवन यापन करना ठीक नहीं है। घास खाकर भी भूख मिटाई जा सकती है पर मांस भोजी व्याघ्र घास नहीं खाता वरन् मांस ही खाता है[1] ॥ ३८८ ॥

राज्यलाभ का जो उपाय है उसकी घोषणा करने वाले मनस्वी पुरुष निराहार रह कर बचे हुए भोजन से संतुष्ट एवं सुख का अनुभव करते हैं।[2] अर्थात्, मनस्वी पुरुष मिथ्याजीविका से जीना उचित नहीं मानते[3] ॥ ३८९ ॥

कृषि, वाणिज्य, धनुर्विद्या या इसी प्रकार के अन्य कार्यों के द्वारा जीवन-यापन न कर भिक्षु भिक्षापिण्ड से भी जीवित रह सकता है ॥ ३९० ॥

यह जम्बुदीप विशाल एवं फैला हुआ है यहाँ अनेक ऐसे मार्ग खुले है जहाँ सर्वत्र आलस्यरहित हो कर सुख से जीवन-यापन किया जा सकता है ॥ ३९१ ॥

इस प्रकार पराक्रम एवं उत्साह को केन्द्र बनाकर सरसो मात्र छोटी वस्तुओं के प्रति भी जागरूक एवं सावधान रहे, तथा जीविका की अनुचित खोज न करते हुए अपनी आजीविका को शुद्ध रखें ॥ ३९२ ॥

चीवर (भिक्षुवस्त्र) पिण्डपात (भोजन) भैषज्य और शयनासन इन चार प्रत्ययों के प्राप्त होने पर पण्डितजन विचार पूर्वक इनका सेवन करें ॥ ३९३ ॥

---

1. संहत-दृढ़, कसा हुआ भापेति घोषित करता है।
2. विगमो-विदा, प्रस्थान।
3. विघास-बचा हुआ भोजन (अवशिष्ट भोजन)।

येन येन उपायेन यत्थ कत्थचि जीवितुं ।
सक्का ति एकचित्तम्पि किन्नु तस्स न जायति ॥ ३८५ ॥

मिच्छाजीवोपलद्धेन पच्चयेनेव जीवता ।
सिया निब्बानमग्गग्गो पत्तब्बो न तु अञ्ञथा ॥ ३८६ ॥

तथापि च सलज्जस्स सब्बसत्ताधमोचितो ।
मिच्छाजीवो कथं सक्का परलाळनवञ्चितो ॥ ३८७ ॥

सिया जिघच्छाविगमो तिणभक्खस्स पीति किं ।
व्यग्घो खादेय्य नु तिणं संहतामिसभोजनो ॥ ३८८ ॥

रज्जलाभस्सूपायो यं इति ञापेति मानिनो ।
विघासं किन्नु खादन्ति निराहारापि सुक्खिता ॥ ३८९ ॥

कसिं वणिज्जं इस्सत्थं अञ्ञं वापि च तादिसं ।
अकरोन्तेन सक्का व जीवितुं भिक्खपिण्डतो ॥ ३९० ॥

वित्थिण्णो जम्बुदीपोयं मग्गानेक अनावुता ।
सब्बत्थ अकुसीतेन सुखं सक्का व जीवितुं ॥ ३९१ ॥

इति विरियं धुरं कत्वा सरन्तो सस्सपादिके ।
आजीवसुद्धिं रक्खेय्य अकरोन्तो अनेसनं ॥ ३९२ ॥

चीवरं पिण्डपातञ्च भेसज्जं सयनासनं ।
पटिसङ्खाय सेवेय्य लद्धं लद्धं विचक्खणो ॥ ३९३ ॥

क्योंकि जो अन्य द्वारा दिये गये प्रत्ययों (भोजन, वस्त्र, शयनासन भैषज्य) को विचार रहित होकर तथा आसक्तिपूर्वक परिभोग करता है वह अपने लिए ही गड्ढा खोदता है ॥ ३९४ ॥

जिस प्रकार जख्मी व्यक्ति अपने जख्म पर लेप लगाता है उसी प्रकार सज्जन जन प्रयोजन को जानकर रसतृष्णा से अलग रहते हुए आहार का परिभोग करें ॥ ३९५ ॥

वात, आतप से परित्राण के लिए तथा मक्खी, मच्छड़ों के निवारण के लिए, घाव के ढकने के लिए पट्टी बाँधने की भाँति चीवर (वस्त्र) का उपयोग करें ॥ ३९६ ॥

उन-उन रोगों के निवारण मात्र के लिए तथा रोग से मुक्त होने के लिए तृष्णारहित होकर भैषज्य का सेवन करें ॥ ३९७ ॥

यह मांसपिण्ड का शरीर अनन्त उपद्रवों से युक्त है। इसकी रक्षा करना कठिन है, इसे गुप्त रखना चाहिए साथ ही इससे आसक्ति रहति होकर रहना चाहिए। अर्थात् इस शरीर से आसक्त नहीं होना चाहिए ॥ ३९८ ॥

जैसे तिदण्ड दो दण्डों से रहित होने पर अकेले खड़ा नहीं रह सकता उसी प्रकार प्रत्ययों (भोजनादि) के अभाव में यह शरीर ठहर नहीं सकता ॥ ३९९ ॥

प्रत्ययों (भोजनादि) के सम्यक् प्रयोग करने से यह महान अर्थ के लिए होता है इसलिए प्रत्ययों के सम्यक् प्रयोग से पण्डित लोग अपनी शरीर की रक्षा करते हैं ॥ ४०० ॥

चंचल जल रूपी शरीर में शरीराश्रित 'चित्त' रूपी नाव झंझावत से हत लताग्रभाग के समान कम्पनयुक्त होता है अतः समाधिस्थ (एकाग्र) नहीं हो सकता ॥ ४०१ ॥

असमाहित चित्त को यथाभूत दर्शन नहीं होता, तथा अयथाभूतदर्शी कभी भी मुक्त नहीं हो सकता है ॥ ४०२ ॥

अतः चित्त को एकाग्र करने के लिए ज्ञानपूर्वक प्रत्ययों (भोजन, वस्त्र, भैषज्य आदि) का सेवन करते हुए शरीर की रक्षा करें[1] ॥ ४०३ ॥

1. शरीरपरिरक्खणं यु. पा.।

पटिसङ्खानरहितो पच्चयं अञ्ञदत्तिकं ।
गथितो परिभुञ्जन्तो गाधं खणति अत्तनो ॥ ३९४ ॥

वणलेपं व वणितो साधु ञत्वा पयोजनं ।
आहारं परिभुञ्जेय्य रसतण्हाविवज्जितो ॥ ३९५ ॥

वातातपपरित्तानं मक्खिकादि निवारणं ।
वणच्छादनचोलं व चीवरं पटिसेवये ॥ ३९६ ॥

तस्स तस्सामयस्सेव पटिसेधनमत्तकं ।
अब्यापज्झत्थिकं सेवे भेसज्जं स्नेहवज्जितो ॥ ३९७ ॥

सरीरं मंसपिण्डं व अनन्तोपद्दवं इदं ।
दुरक्खं गोपितब्बन्ति निस्सङ्गो वसतिम्भजे ॥ ३९८ ॥

देहो ठातुन्न सक्को ति पच्चयेहि विवज्जितो ।
तिदण्डो एकदण्डो व दण्डद्वयविवज्जितो ॥ ३९९ ॥

सम्मा पयुज्जमानो सो महतोत्थाय वत्तति ।
इति सम्मा पयोगत्थं देहं रक्खन्ति पण्डिता ॥ ४०० ॥

सरीरजलकम्पेन चित्तनावा तदस्सिता ।
वाताहतलतग्गो व न सक्कोति समाहितुं ॥ ४०१ ॥

असमाहितचित्तस्स न यथाभूतदस्सनं ।
अयथाभूतदस्सी हि न मुच्चति कुदाचनं ॥ ४०२ ॥

अग्नि द्वारा किए जाने वाले कार्य बहुत दिनों तक करते रहने पर भी अग्नि जन्य दोष नहीं होते क्योंकि अग्नि के उपयोग करने का उपाय मनुष्य जानता है ॥ ४०४ ॥

अनुचित उपाय से प्राप्त आजीविका अग्निदोष से दग्ध की तरह दुःख देती है जिससे निर्वाण के लिए प्रयत्न नहीं करता हुआ दारुण दुःख को प्राप्त करते हैं ॥ ४०५ ॥

प्रत्ययों को अग्नि की तरह जानें। तथा समुचित तरीके से उपार्जित आजीविका से आसक्ति रहित होकर तथा विचार पूर्वक आहारादि का सेवन करें ॥ ४०६ ॥

जो आजीविका अपने बाहु तथा पराक्रम से उपर्जित न हो और न अपने जाति एवं कुल के द्वारा प्राप्त किया गया हो, केवल दूसरे की प्रसन्नता से प्राप्त हो ऐसा बँधा हुआ भोजन करना क्या युक्त है? ॥ ४०७ ॥

बंधा हुआ मूढ़ता से युक्त तथा श्रान्त दूसरे द्वारा दिये गये भोजन को स्वान की भाँति खाते हुए श्रमण घृणित होता है ॥ ४०८ ॥

रसतृष्णा से परिचित तथा रसतृष्णा के दुर्गुणों को नहीं देखनेवाला अपने चित्त को बिल्कुल दूषित कर लेते हैं भले ही रूखा प्रत्यय ही उन्हें क्यों न प्राप्त हो ॥ ४०९ ॥

रसतृष्णा से विरहित तथा रसतृष्णा में सदा दुर्गुणों को देखने वाले, उदार प्रत्ययों के प्राप्ति से भी चित्त को दूषित नहीं करते ॥ ४१० ॥

इन्द्र के समान भोग्य वस्तु प्राप्त होने पर भी जो भोगों के दोष को देखने वाले हैं वे प्रत्ययों (भोजनादि) से अनुरक्त नहीं होते और निर्वाणभागी होते हैं। अर्थात् निर्वाण को प्राप्त करते हैं ॥ ४११ ॥

प्रत्ययों के मात्रा को जानकर तथा मात्रा (परिमाण) के गुणों को जानकर वरावर प्रत्यवेक्षण करते हुए सेवन करें। मात्रा से अधिक प्रत्ययों को छोड़ देना चाहिए। इस प्रकार अग्नि की तरह प्रत्ययों का प्रतिग्रहण करना चाहिए ॥ ४१२ ॥

इसलिए प्रज्ञा के द्वारा प्रत्ययों के दुर्गुणों को देखें। ज्ञान पूर्वक प्रत्यवेक्षण करते हुए प्रत्ययों के सेवन द्वारा पण्डितजन शील की रक्षा करते हैं ॥ ४१३ ॥

(जैसे वीर्य से आजीव-परिशुद्धि होती है, वैसे ही प्रत्यय-सन्निश्रित-शील•को प्रज्ञा से पूर्ण करना चाहिए। प्रज्ञावान् ही प्रत्ययों के सदोष-निर्दोष होने को जान सकता है, अतः वह प्रज्ञा द्वारा ही साध्य हैं, इसलिए प्रत्ययों (भोजनादि) के प्रति

तस्मा चित्तसमाधत्थी सरीरपरिरक्खणं ।
करेय्य पटिसेवेन्तो पटिसङ्खाय पच्चये ॥ ४०३ ॥

अग्गिना करणीयानि करोन्तो सुचिरम्पि च ।
अग्गिदोसन्न पप्पोन्ति उपायोपगता नरा ॥ ४०४ ॥

अनुपायेनूपगता अग्गिदोसेन अट्टिता ।
सदत्थञ्च असाधेन्ता दुक्खं पप्पोन्ति दारुणं ॥ ४०५ ॥

अग्गीव पच्चया ञेय्या अञ्ञायोपगमो विय ।
स्नेहपुब्बमसङ्खाय आहारादि निसेवनं ॥ ४०६ ॥

न बाहुविरियायातं न च ञातिकुलागतं ।
परप्पसादलद्धं किं युत्तं गथितभोजने ॥ ४०७ ॥

गथितो मुच्छितो सन्तो भुञ्जन्तो परभोजनं ।
सुवावन्तं व भुञ्जन्तो समणो हि जिगुच्छियो ॥ ४०८ ॥

रसतण्हा परिचिता अनादीनवदस्सिनो ।
सचित्तं परिदूसेन्ति अतिलूखे पि पच्चये ॥ ४०९ ॥

रसतण्हाविरहिता सदादीनवदस्सिनो ।
चित्तदोसन्न पप्पोन्ति उळारे पि च पच्चये ॥ ४१० ॥

आदीनवानुपस्सी हि तिदसिन्दोपभोजिये ।
पच्चये पि च निस्सङ्गो होति निब्बानभागियो ॥ ४११ ॥

गृद्ध-स्वभाव को त्यागकर धर्म के साथ मिले प्रत्ययों को, कही गई विधि के अनुसार प्रज्ञा से प्रत्यवेक्षण करके परिभोग करते हुए उसे पूर्ण करना चाहिए)

इस प्रकार ज्ञान पूर्वक परिशोधित चार पारिशुद्धि शील (प्रातिमोक्ष संबरशील, इन्द्रिय परिशुद्धिशील, आजीव पारिशुद्धिशील तथा प्रत्यय-सन्निश्रित-शील) सुशोधित सुवर्ण की भाँति कामनाओं को पूर्ण करने वाला होता है ॥ ४१४ ॥

इस प्रकार परिपूर्ण किया गया शीलरत्न इस लोक तथा परलोक में श्रेष्ठ गुणों को देकर वाद में निर्वाण प्राप्त कराता है ॥ ४१५ ॥

प्रत्यक्षतः हीनजाति में उत्पन्न शील पालन के द्वारा अत्यन्त उच्चकुल का वंसज हो जाता है। ऐसे शील सम्पन्न नरेन्द्र को इस लोक में सभी श्रद्धा से नमस्कार करते हैं यह शील भावना का साफल्य है ॥ ४१६ ॥

मानी ब्राह्मण तथा अन्य वडप्पन से युक्त जन भी शीलवान् को संसार में श्रद्धा से नमस्कार करते हैं ॥ ४१७ ॥

स्थानान्तर में जो धन और ऐश्वर्य से बृद्ध हैं या प्रबुद्ध हैं वे भी शील सम्पन्न मनुष्य को इस संसार में श्रद्धा से नमस्कार करते हैं ॥ ४१८ ॥

कुल में जो ज्येष्ठ पुरुष है अथवा माता पिता आदि हैं वे भी शीलवान् (मनुष्य) को नमस्कार करते हैं ॥ ४१९ ॥

त्रैविद्य, सर्व भुम्मा देवता और क्षत्रिय, चार महाराज देवता जो स्वर्ग में यशस्वी हैं वे भी शीलवान् को नमस्कार करते हैं ॥ ४२० ॥

देवताओं में श्रेष्ठ इन्द्र जो सभी इच्छाओं में सफलकाम हैं, वह भी शील-सम्पन्न स्मृतिमान् पुरुष को सदा नमस्कार करता है ॥ ४२१ ॥

ध्यान एवं ऐश्वर्य को प्राप्त जो सहम्पति ब्रह्मा है, वह भी शीलसम्पन्न स्मृतिवान् को सदा नमस्कार करता है ॥ ४२२ ॥

यदि इस संसार में भी शीलवान् सत्कार को प्राप्त करते हैं और शील का फल इस प्रकार है, तो क्या इसी प्रकार परलोक में भी इससे बढ़कर आदर और सत्कार शील गुणों का फल नहीं होगा ॥ ४२३ ॥

शीलवान् की कीर्ति शब्द सम्पूर्ण पृथ्वी समुद्र सहित ब्रह्मलोक तक उसी क्षण फैलती है ॥ ४२४ ॥

हवा के अनुकूल और प्रतिकूल दोनों दिशाओं में शीलमय गन्ध जो सभी सुगन्धों में उत्तम है अप्रतिहत गति से सर्वत्र प्रसरित होता है ॥ ४२५ ॥

मत्तं मत्तानिसंसञ्च पहातब्बञ्च तत्ततो ।
बहुसो पच्चवेक्खित्वा भजे अग्गीव पच्चये ॥ ४१२ ॥

तस्मा पञ्ञाधुरं कत्वा आदीनवमपेक्खिय ।
पच्चवेक्खणजं सीलं परिरक्खन्ति पण्डिता ॥ ४१३ ॥

एवं चतुब्बिधं सीलं ञायतो परिसोधितं ।
सुसोधितसुवण्णं व होति इच्छापसाधिकं ॥ ४१४ ॥

इदं हि सीलरतनं इधलोके परत्थ च ।
आनिसंसवरे दत्वा पच्छा पापेति निब्बुतिं ॥ ४१५ ॥

पच्चक्खं हीनजच्चं हि अच्चन्तोळारवंसजा ।
नरिन्दा सीलसम्पन्नं नमस्सन्तीह भावतो ॥ ४१६ ॥

मानिनो ब्राह्मणा वापि गुरुसूपि असन्नता ।
ते पि सीलेन सम्पन्नं नमस्सन्तीह भावतो ॥ ४१७ ॥

ठानन्तरेन ये बुद्धा धनिस्सरियतो पि वा ।
ते पि सीलेन सम्पन्नं नमस्सन्तीह भावतो ॥ ४१८ ॥

कुले जेट्ठा च पुरिसा ये च मातापितादयो ।
ते पि सीलेन सम्पन्नं नमस्सन्तीह भावतो ॥ ४१९ ॥

यं नमस्सन्ति तेविज्जा सब्बभुम्मा च खत्तिया ।
चत्तारो च महाराजा तिदसा च यसस्सिनो ॥ ४२० ॥

जो अपने लिए निकृष्ट उन प्रत्ययों को भी प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं जिसे एक गृहस्थ अपने घर में उत्पन्न करने में असमर्थ होता है ॥ ४२६ ॥

वह भी शील सम्पन्न होने से नहीं ढूंढने पर भी अत्यन्त श्रेष्ठ प्रत्ययों का लाभी दीखता है ॥ ४२७ ॥

सुन्दरियाँ उनके विहार (वासस्थान) को दीपों से प्रज्वलित करती हैं, गगनचुम्बी ध्वज से वह बिहार मण्डित होता है ॥ ४२८ ॥

महामेघ के उदार स्वर के समान समयानुकूल भेरि शब्द गूँजते हैं तथा अनेक सहस्त्र भिक्षुओं के लिए श्रेष्ठ प्रत्यय सुलभ होते हैं ॥ ४२९ ॥

अतितुच्छ होने पर भी ऊँचा प्रदेश में स्थित पर्वत की भाँति अचल हार हंस हिमजल सदृश श्वेतवर्ण से चित्रित चैत्य आदि अत्यन्त सुन्दर होते हैं ॥ ४३० ॥

छोटे बिहार (भिक्षुओं के वासस्थान) भी जिस प्रकार उदार ऐश्वर्य एवं शोभा से युक्त हैं वैसा सभी प्रकार के ऐश्वर्यों से युक्त किसी घर की शोभा नहीं हो सकती ॥ ४३१ ॥

श्रेष्ठशील रुपी द्रुम में यदि पुष्पमात्र अग्रलाभ दायक है तो परलोक में यह कितना फलवान होगा इसका अनुमान करना कठिन है ॥ ४३२ ॥

सभी समुद्रों सहित पृथ्वी से वलाद् आवर्जित फल के बाढ़ आ जायेंगे ॥ ४३३ ॥

दुष्ट चित्तवाला भी उसकी निन्दा नहीं करते तथा श्रेष्ठों में गिनते हैं। संतुष्ट रहनेवाला भी हमेशा इष्ट के लाभ से उससे हार मान जाता है ॥ ४३४ ॥

शीलवान् मनुष्य अपने साथियों में प्रिय होता है तथा सर्वदा सेवनीय होता है। अकेले में भी वास आदि के योग्य होता है। निर्भय तथा सभी प्रकार के भोगों से युक्त होता है ॥ ४३५ ॥

अखण्ड शील से युक्त पुरुष को जैसा अनवद्य सुख (दोष रहित सुख) प्राप्त होता है वैसा सुख ब्रह्मा असुर देवेन्द्र तथा नागेन्द्र को भी दुर्लभ हैं ॥ ४३६ ॥

इस तरह शील का ऊपर कथित अनेक और असंखेय्य सांदृष्टिक फल को देखते हुए शीलसम्पत्ति जनित फल को अशेषतः कौन वर्णन कर सकता है ॥ ४३७ ॥

यदि इसलोक में ऊपर कथिंत अनन्त शीलजन्य फल होते हैं तो परलोक में शीलजन्य फल को यहाँ कौन जान सकता है ॥ ४३८ ॥

देवानं इन्दो पवरो सब्बकामसमिद्धिको ।
सो पि सीलेन सम्पन्नं नमस्सति सदा सतो ॥ ४२१ ॥

झानिस्सरियतम्पत्तो यो हि ब्रह्मा सहम्पति ।
सो पि सीलेन सम्पन्नं नमस्सति सदा सतो ॥ ४२२ ॥

इहापि यदि सक्कारं सीलम्फलति ईदिसं ।
किन्नु सक्कारवित्थारं परलोके फलिस्सति ॥ ४२३ ॥

पत्थरित्वान सकलं सागरन्तं महामहिं ।
सद्दो सीलवतं याति ब्रह्मलोकम्पि तं खणं ॥ ४२४ ॥

पटिवाताणुवातेसु सब्बत्थाविहतक्कमो ।
इति सीलमयो गन्धो सब्बगन्धेसु उत्तमो ॥ ४२५ ॥

लामकं पच्चयञ्चापि घटन्तो अत्तदत्थिकं ।
यो निप्फादेतुमसमत्थो गिहीभूतो सके घरे ॥ ४२६ ॥

सो पि सीलेन सम्पन्नो अकरोन्तो अनेसनं ।
लाभी अच्चन्त सेट्ठानं पच्चयानं पदिस्सति ॥ ४२७ ॥

पदीपेन्तीव तं एते विहारा चारुदस्सना ।
गगणुल्लिखमानग्ग चेतियद्धजमण्डिता ॥ ४२८ ॥

महामेघस्सरोदारभेरिविञ्ञातकालिका ।
नेकभिक्खुसहस्सानं सुलभोळारपच्चया ॥ ४२९ ॥

भगवान बुद्ध ने कहा है कि एक उपोसथ करने मात्र से परिनिर्मित वशवर्ती देवभूमि में उत्पन्न होता है ॥ ४३९ ॥

कालपर्यन्त शील का (इतना समय तक शील पालन करूँगा ऐसा सोच जो शील को परिपूर्ण करता है उसे कालपरियन्त शील कहा जाता है) यदि इस प्रकार फलोदय होता है तो अपर्यन्तशील के फल को इससे अधिक क्या वर्णन कर सकता हूँ ॥ ४४० ॥

शीलवान् पुरुष दूसरों के लिए विश्वसनीय, स्वजनों के यश को बढ़ाने वाला, कुल में अलङ्कारभूत और आचार को प्रमाणित करने वाला होता है ॥ ४४१ ॥

शील अनवद्य (निर्दोष) सुख को देनेवाला, कुल को प्रकाशित करनेवाला, धन और समृद्धि को प्रदान करने वाला तथा बुद्ध के अनुरूप स्थान दिलानेवाला है ॥ ४४२ ॥

शील जल में स्नान करने के समान जल स्नान नहीं हो सकता। शील गन्ध सभी दिशाओं में फैलती है। शील की रक्षा करने से उसकी छाया शीलवानों की अनुगामी होती है। अथवा शील छत्र की भाँति छाया प्रदान करता है ॥ ४४३ ॥

शीलवान् अर्यवंस में प्रतिष्ठित होता है, शीलशिक्षा भी अनुत्तर अर्थात् सर्वश्रेष्ठ है सुगति के महामार्ग में यह अविचल प्रतिष्ठा दिलाती है ॥ ४४४ ॥

इस लोक में शील के अशेष गुणों को जानकर पर्यन्तशील का पालन कौन नहीं करता क्योंकि शीलगुणों की महत्ता स्पष्ट रूप से बताया गया है ॥ ४४५ ॥

वेस्सन्तर राजा द्वारा दिये गये महादान से लेकर सङ्घ को दिये जाने वाले श्रेष्ठ दान का महत्त्व यद्यपि प्रतिपादित किया गया है तथापि उससे भी श्रेष्ठ पञ्चशील का आचरण करना है जिसे भगवान् ने बताया है ॥ ४४६ ॥

मार्गज्ञान के उपकार के लिए अथवा शीलविशुद्धि के लिए दान एवं शील में मेरु गिरि एवं सरसो में जे अन्तर है उससे अधिक अन्तर समझना चाहिए। शील दान की अपेक्षा अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है ॥ ४४७ ॥

इस प्रकार शील सम्पदा के महान गुणों से युक्त जानकर एक नेत्र की भाँति चार प्रकार के शील की रक्षा करें। (प्रातिमोक्षसंवरशील, इन्द्रियसंवरशील, आजीव-पारिशुद्धिशील तथा प्रत्ययसन्निश्रितशील) ये चार शील हैं ॥ ४४८ ॥

अतितुच्छे पि दिस्सन्ति देसे उच्चाचलूपमा ।
हारहंसहिमाम्भोदपण्डरा चेतियादयो ॥ ४३० ॥

तुच्छस्सापि विहारस्स उळारा यादिसी सिरी ।
सब्बदेसिस्सरस्सापि न गेहे तादिसी सिरी ॥ ४३१ ॥

यदि सीलदुमिन्दस्स पुप्फमत्तम्पि ईदिसं ।
लाभग्गदायकं तस्स परलोकफलन्नु किं ॥ ४३२ ॥

महण्णवानं सब्बेसं सहेव खलु भूमिया ।
बलादावज्जितानं व फलोघो आगमिस्सति ॥ ४३३ ॥

दुट्ठापि तन्न धंसेन्ति सेट्ठेसु च गणीयति ।
तुट्ठो च सततं होति इट्ठलोभेन सीदति ॥ ४३४ ॥

पियो सब्रह्मचारीनं भजनीयो च सीलवा ।
असंकितो हि सम्भोग संवासादि रहो पि च ॥ ४३५ ॥

अविक्खण्डितसीलस्स अनवज्जसुखं हि यं ।
तं ब्रह्मासुरदेविन्दनागिन्दानम्पि दुल्लभं ॥ ४३६ ॥

सन्दिट्ठिकमसङ्ख्येय्य फलं इच्चेवमादिकं ।
सीलसम्पत्तिजनितं को निस्सेसं भणिस्सति ॥ ४३७ ॥

इहापि यदि इच्चेवं अनन्तं सीलजम्फलं ।
परलोकफलस्सन्तं को हि तस्सीध जस्सति ॥ ४३८ ॥

प्रातिमोक्ष संवरशील, इन्द्रियसंवरशील, आजीव-पारिशुद्धिशील तथा प्रत्यय-सन्निश्रितशील इन चार प्रकार के शील को ऋद्धिमान् पण्डित जन अनुरक्षण, प्रत्यवेक्षण पालन एवं पूर्ण कर मार का मर्दन कर देते हैं ॥ ४४९ ॥

इस प्रकार शील गुणों का चिन्तन करते हुए जीवनरक्षा के लिए भी शील का खण्डन न करें। सज्जन पुरुष अखण्ड शील से युक्त होकर प्रमादरहित हो निर्वाण को प्राप्त करते हैं ॥ ४५० ॥

९. भावनानिसंस-गाथा
भावना के गुणों की गाथा (भावना माहात्म्य)

दान एंव शील के सम्पूर्ण गुणों के बारे में जो बतलाया गया वे मन्द भावना (योगाभ्यास) से भी निश्चित ही सम्यक् प्रकार से सिद्ध हो जाते हैं, इसमें सन्देह नहीं ॥ ४५१ ॥

संक्षेपतः पुण्य सभी क्लेशों का प्रतिपक्ष धर्म हैं। उन क्लेशों को अशेषतः नष्ट करने में बलवती भावना (दृढ़ योगाभ्यास) आवश्यक है। क्योंकि भावना के द्वारा ही क्लेशों का मूलोच्छेद किया जा सकता है ॥ ४५२ ॥

जिस शत्रु को जीत लेना राजा के सहायक के लिए सरल है तो चक्रवर्ती नरेन्द्र के लिए उसको जीतना कठिन कैसे हो सकता है. अर्थात् चक्रवर्ती नरेन्द्र के लिए उन शत्रुओं को जीतना और भी आसान है ॥ ४५३ ॥

(यहाँ दान एवं शील की उपमा राजा के सहायक से दी गई है तथा 'भावना' की उपमा चक्रवर्ती नरेन्द्र से दी गई है। अर्थात् दान एवं शील के द्वारा ही तदांग प्रहाण के रूप में क्लेशों को नष्ट कर दिया जाता है:, तथा शमथ और विपश्यना भावना के द्वारा सम्पूर्ण क्लेशों का मूलोच्छेद कर दिया जाता है जिसे क्रमशः विष्कम्भन प्रहाण तथा समुच्छेद प्रहाण कहा जाता है।)

भावनाबल के योग से बुद्धभाव को भी प्राप्त किया जाता है तो बुद्धभाव से अन्य कौन सी ऐसी महत्त्वपूर्ण सम्पत्ति है जो भावना के द्वारा प्राप्त न किया जा सके ॥ ४५४ ॥

तदांग प्रहाण, विष्कम्भन प्रहाण तथा समुच्छेद प्रहाण, के योग से श्रेष्ठ कहने वाले भगवान् बुद्ध ने सम्पूर्ण क्लेशों का प्रहाण बतलाया है ॥ ४५५ ॥

एकाहुपोसथेनापि परनिम्मितवत्तिसु ।
ठानसो उपपज्जेय्य इति वुत्तं महेसिना ॥ ४३९ ॥

कालपरियन्तिकस्सापि सीलस्सेसो फलोदयो ।
अपरियन्तस्स हि फलं किं वक्खाम इतो परं ॥ ४४० ॥

परस्स विस्सासनीयो सजनस्स यसावहो ।
कुलालङ्कारभूतो च आचारम्हि पमाणको ॥ ४४१ ॥

अनवज्जसुखं सीलं कुलञ्च उदितोदितं ।
धनञ्च सामिद्धिकरं ठानं वुद्धानुरूपकं ॥ ४४२ ॥

सिनानं नोदकञ्चापि गन्धो चापि दिसङ्गमो ।
अनुगामिकताछाया छत्तं रक्खितरक्खणा ॥ ४४३ ॥

अरियानमथो वंसो सिक्खापि च अनुत्तरा ।
सुगतीनम्महामग्गो पतिट्ठा अविचालिया ॥ ४४४ ॥

इति दिट्ठेव धम्मेपि आनिसंसे असेसके ।
को नु गच्छेय्य परियन्तं वदन्तो एवमादिके ॥ ४४५ ॥

वेलामदाने पट्ठाय सङ्घे दानग्गसम्मतं ।
वत्वा ततो पि सेट्ठन्ति पञ्च सीलम्पकासितं ॥ ४४६ ॥

मग्गञाणोपकाराय अथो सीलविसुद्धिया ।
दानस्साप्यन्तरम्मेरु सासपन्तरतो 'धिकं ॥ ४४७ ॥

(शील के तदांग प्रहाण के रूप में क्लेशों का प्रहाण, (त्याग) समाधि से विष्कम्भन (दवा देना) प्रहाण और प्रज्ञा से समुच्छेद प्रहाण बतलाया गया है। इस प्रकार शमथ और विपश्यना की युगनद्धता से सम्पूर्ण क्लेशों का समूलतः उच्छेद हो जाता है।)

दान, शील आदि से तदांग प्रहाण के रूप में क्लेशों को मारते हैं। उन ध्यानों से (उपचार एवं अर्पणा समाधि से) विष्कम्भन प्रहाण अर्थात् पाँच नीवरण दूर हो जाते हैं तथा चार आर्य मार्गों की भावना से क्लेशों का सर्वांशतः दूरीकरण कर दिया जाता है (जिसे समुच्छेद प्रहाण कहा जाता है)॥ ४५६ ॥

ध्यान भावना को शमथ तथा चार आर्यमर्गों की भावना को विपश्यना भावना कहा जाता है। अवस्था भेद से दो भावना शमथ एवं विपश्यना भावना निर्दिष्ट है ॥ ४५७ ॥

(किलेसे समेतीति समथो) कामच्छन्द आदि नीवरण क्लेशों का शमन करने वाला धर्म 'शमथ' है। अथवा "पच्चनीकधम्मे समेतीति समथो"[1] जो ध्यान के प्रत्यनीक धर्म नीवरणों को शमन करने वाला है उसे शमथ भावना कहा जाता है।

महाकुशल एवं रूप कुशल प्रथम ध्यान में सम्प्रयुक्त 'समाधि' चैतसिक' ही शमथ हैं।[2] जब पृथग्जन 'कर्म स्थान की भावना करते हैं, तब उनमें महाकुशल चित्त उत्पन्न होते हैं और जब कम्मट्ठान सिद्ध हो जाता है, तब ध्यान का लाभ होता है, तब नीवरण नामक चित्त एकाग्रता के बाधक तत्त्वों का उपशमन हो जाता है।

विपस्सना भावना[3]–विसेसेन पस्सतीति विपस्सना' धर्मों का विशेषरूप में दर्शन करने वाली प्रज्ञा 'विपश्यना' है। महाकुशल तथा महाक्रियाचित्तों में सम्प्रयुक्त 'प्रज्ञा'-विशेष ही विपश्यना है। यह रूप है, यह नाम है, यह अनित्य है, यह दुःख है, यह अनात्म है, यह अशुभ है-इत्यादि प्रकार से विशेषतः जानने वाला धर्म विपश्यना" है। अथवा-'विविधेन अनिच्चादि आकारेन पस्सतीति विपस्सना'[4] धर्मों को विविध अर्थात् अनित्य, अनात्म, दुःख, अशुभ आदि आकारों से देखने वाली प्रज्ञा 'विपश्यना' है।

---

1. अ. सा. प्र. ४५ ।
2. द्र.-अ. सा. पृ. ४५; अभि. समु. पृ. ७५ ।
   अथवा-किलेसे अञ्ञे पि वा वितक्कादयो ओळारिक धम्मे समेतीति समथो । तथापवत्तो एकग्गतासङ्खातो समाधि" । प. दी. पृ. ३६० ।
3. विसेसेन पस्सन्ति एताया ति विपस्सना; अनिच्चानुपस्सनादिका भावना पञ्चा । प. दी.-पृ. ३६० ।
4. द्र. अनिच्चादिवसेन विविधेन आकारेन "पस्सतीति विपस्सना ।" अट्ठ. सा. पृ. ४५ ।

एवं महानिसंसन्ति विदित्वा सीलसम्पदं ।
नयनं एकनेत्तो व रक्खे सीलं चतुब्बिधं ॥ ४४८ ॥

पातिमोक्खसंवरो इन्द्रियानुरक्खणं,
पच्चयान्ववेक्खनं जीवसुद्धि एव च ।

तं चतुब्बिधं बुधा सीलसुद्धिमिद्धिया,
पूरयित्वा पण्डिता मारमद्दनं कता ॥ ४४९ ॥

इति सीलगुणं विचिन्तयन्तो,
कुसलो जीवितहेतुतो पि सीलं ।
अविखण्डिय साधु सोधयन्तो,
अभिनिब्बाति अतन्दितो घटन्तो ॥ ४५० ॥

९. भावनानिसंस-गाथा

दाने सीले च ये वुत्ता आनिसंसा असेसका ।
ते मन्दभावनायापि संसिज्झन्ति असंसयं ॥ ४५१ ॥

किलेसपटिपक्खं व सब्बं पुञ्ञं समासतो ।
किलेसुम्मूलकारणा भावना बलवन्तरी ॥ ४५२ ॥

सुकरं खुज्जराजेन यं सिया सत्तुदूसनं ।
चक्कवत्तिनरिन्दस्स कथन्तं दुक्करं सिया ॥ ४५३ ॥

भावनाबलयोगेन बुद्धभावो पि साधियो ।
तदञ्ञा काहि सम्पत्ति भावनाय असाधिया ॥ ४५४ ॥

भावना–भावेतब्बा ति भावना' स्वसन्तान में उत्पन्न करने योग्य अथवा अभिवृद्धि करने योग्य धर्म को 'भावना' कहा जाता है। उपर्युक्त शमथ एवं विपश्यना नामक धर्मों में से किसी एक का अपनी सन्तान में उत्पाद करने के लिए प्रयत्न करना तथा एक बार उत्पन्न हो जाने पर उसकी अभिवृद्धि के लिए पुनः-पुनः प्रयत्न करना 'भावना' है।

इस प्रकार भावना दो प्रकार की होती है–शमथ एवं विपश्यना। उनमें से नीवरण-आदि क्लेश धर्मों एवं वितर्क-आदि नीचे-नीचे के ध्यानाङ्ग धर्मों का उपशमन करने वाला समाधि नामक धर्म 'शमथ भावना' तथा त्रैभूमिक नाम-रूप धर्मों को अनित्य, अनात्म, दुःख एवं अशुभ आदि रूपों में देखने वाला प्रज्ञा नामक धर्म 'विपश्यना भावना' है।

नीवरणों से रहति चित्त की एकाग्रता और एक आरम्मण पर चित्त चैतसिकों का समान रूप से स्थिति को ध्यान कहते हैं जो ध्यानाङ्गों से मण्डित होता है ॥ ४५८ ॥

(कामच्छन्द, व्यापाद, स्त्यान-मृद्ध, औद्धत्य-कौकृत्य और विचिकित्सा ये पाँच नीवरण हैं। ये सभी चित्त एकाग्रता के बाधक तत्त्व है। जब इन नीवरणों से चित्त मुक्त हो जाता है तो ऐसे चित्त को 'विनीवरण' चित्त' कहा जता है. विनीवरण चित्त एकाग्र होने लगता है और चित्त एक आरम्मण पर स्थित होने लगता है। नीवरणों के उपशम होने के साथ ही वितर्क, विचार, प्रीति सुख एवं उपेक्षा नामक ध्यानाङ्ग उत्पन्न होते हैं। जिससे चित्त एकाग्र होने लगता है इसे ही ध्यान कहते हैं. चित्त चैतसिकों का एक विषय पर स्थिति ही ध्यान है।)

कामच्छन्द, व्यापाद, थीनिमिद्ध, उद्धच्च-कुक्कुच्च तथा विचिकिच्छा ये पाँच नीवरण है ॥ ४५९ ॥

चित्त का एक आरम्मण पर स्थिति (ठहराव) को एकाग्रता कहते हैं। शमथ अथवा समाधि चित्त का अविक्षेप है ऐसा विद्वानों का कथन है। विक्षेप का न होना ही समाधि है ॥ ४६० ॥

वितर्क, विचार, प्रीति, सुख एवं उपेक्षा ये पाँच ध्यानाङ्ग हैं। इन ध्यानाङ्गों के योग से चित्त एकाग्र होने लगता है ॥ ४६१ ॥

प्रथम ध्यान चार अङ्गों से युक्त होता है। द्वितीय ध्यान तीन अङ्गों से तृतीय ध्यान दो अङ्गों से चतुर्थ ध्यान एक अङ्ग से तथा पञ्चम ध्यान एक अङ्ग से युक्त

तदङ्गविक्खम्भनतो समुच्छेदवसेन च ।
किलेसानं पहानं हि वण्णेन्ति वरवादिनो ॥ ४५५ ॥

किलेसे दानसीलादि तदङ्गेन हनन्ति हि ।
विक्खम्भेति हि ते झानं मग्गो भिन्दति सब्बथा ॥ ४५६ ॥

भावना एव झानञ्च मग्गो ति च विपस्सना ।
समथो ति च निद्दिट्ठा अवत्थन्तरभेदतो ॥ ४५७ ॥

विनीवरणमेकग्गमेकालम्बनसण्ठितं ।
झानन्ति हि समक्खातं सेसज्झानङ्गमण्डितं ॥ ४५८ ॥

कामच्छन्दो च ब्यापादो थीनमिद्धं सकुक्कुच्चं ।
उद्धच्चं विचिकिच्छा च पञ्च नीवरणानि मे ॥ ४५९ ॥

एकग्गता ति चित्तस्स एकालम्बनसण्ठिति ।
समथो च समाधि च अविक्खेपो ति तं विदू ॥ ४६० ॥

वितक्को च विचारो च पीति चापि सुखम्पि च ।
उपेक्खा चेति पञ्च ते सेसज्झानङ्गसञ्ञिता ॥ ४६१ ॥

चतुरङ्गं तिवङ्गञ्च दुवङ्गेकेक-अङ्गकं ।
इच्चेवं पञ्चधा भिन्नं एकग्गं झानसञ्ञितं ॥ ४६२ ॥

यदेव खलु एकग्गं पञ्चमज्झानसम्मतं ।
तदेवालम्बभेदेन अरूपज्झानसम्मतं ॥ ४६३ ॥

होता है इस प्रकार ध्यानाङ्गो के योग से चित्त की एकाग्रता को ध्यान कहा जाता है ॥ ४६२ ॥

जो पञ्चमध्यान सम्मत एकाग्रता है वही आलम्बन भेद से अरूपावचरध्यान कहलाता है। पञ्चमध्यान में उपेक्षा ध्यानाङ्ग एवं एकाग्रता रहती है। अरूपावचर ध्यानों की गणना पंञ्चमध्यान में की गई है। साथ ही अरूपावचर ध्यान में आलम्बनों का समतिक्रमण होता है न कि अङ्गों का इसीलिए गाथा में 'आलम्बभेदेन' से अरूपावचर ध्यान का कथन किया गया है ॥ ४६३ ॥

आकासानञ्चायतन, विञ्ञानान्त्यायन, आकिञ्चन्यायतन और नेव संज्ञा-नासंज्ञायतन ये चार अरूपावचर ध्यान के आलम्बन होते हैं ॥ ४६४ ॥

(पाँच रूप ध्यान तथा चार अरूप ध्यान को शमथ कहते हैं। इसे ही भगवान् बुद्ध ने समापत्ति (समाधि) कहा है)

इस प्रकार कहा गया नौ प्रकार के ध्यानों को शमथ कहते हैं इसे ही भगवान् बुद्ध ने समाधि कहा है ॥ ४६५ ॥

अनित्य, अनात्म और दुःख रूप में सभी धर्मों का यथाभूत दर्शन को विपश्यना कहते हैं इसे ही प्रज्ञा या धर्मप्रविचय भी कहते हैं ॥ ४६६ ॥

चार आर्यसत्यों का यथाभूत ज्ञान से निर्वाण का साक्षात्कार होता है। मार्गज्ञान निर्वाण प्राप्त कराने वाले धर्मों में अग्र है ॥ ४६७ ॥

शमथ (समाधि) और विपश्यना (यथार्थ ज्ञान) को प्राप्त करना ही योगियों का संकल्प होता है. क्योंकि ये (शमथ और विपश्यना) निर्वाण को प्राप्त कराने में रथ के धुरा और जुआ के समान है। जिस प्रकार रथ धुरा और जुआ के बिना गन्तव्य-स्थान तक नहीं पहुँच सकता उसी प्रकार शमथ और विपश्यना के विना योगी निर्वाण को प्राप्त नहीं कर सकता ॥ ४६८ ॥

शमथ और विपश्यना की युगनद्धता से किसी भी सिद्धि की प्राप्ति असाध्य नहीं है। इसलिए उसके (शमथ एवं विपश्यना के) गुणों (माहात्म्य) को जानने वाला कोई अन्य अनायक नहीं हो सकता अपितु इनको जानने वाले कोई बुद्ध सदृश नायक ही हो सकते हैं ॥ ४६९ ॥

आकासो चेव विञ्ञाणं तदभावो च तग्गतं ।
चित्तमरूपज्झानस्स आलम्बा चतुरो मता ॥ ४६४ ॥

अयं वुत्तो नवविधो समथो ति पवुच्चति ।
समापत्ती ति तं एव वदन्ति वदतं वरा ॥ ४६५ ॥

अनिच्चादिप्पकारेन यथाभूतत्थदस्सनं ।
विपस्सना च पञ्ञा च विचयो ति पवुच्चति ॥ ४६६ ॥

चतुसच्चाभिसमयं ञाणं निब्बानगोचरं ।
मग्गञाणन्ति अक्खातं अग्गं निब्बानपापकं ॥ ४६७ ॥

समथो विपस्सना चापि योगिनो हि मनोरथं ।
पापेन्ति निब्बानपुरं रथन्धुरि युगं विय ॥ ४६८ ॥

उभयेसं समायोगा न सा सिद्धि असाधिया ।
तस्सानिसंसे विञ्ञाता नत्थि अञ्ञो अनायको ॥ ४६९ ॥

दिट्ठधम्मसुखत्थं वा फासत्थं वा विपस्सितुं ।
भवसम्पत्तिपत्थेन्ता अभिञ्ञत्थाय वा पुन ।
चत्तारत्थवसे ञत्वा निब्बत्तेन्ति समाधयो ॥ ४७० ॥

किलेस सङ्खोभाभावा सुखं चित्तविवेकजं ।
दिट्ठधम्मे पि वेदेति पवरम्भावनारतो ॥ ४७१ ॥

दस्सनीयो च सो होति कस्सपो व महीतले ।
पञ्ञवा सारिपुत्तो व मोग्गल्लानो व इद्धिमा ॥ ४७२ ॥

दृष्ट धर्म अर्थात् इसी जन्म में सुखपूर्वक विहार के लिए, विपश्यना के लिए, (यथार्थ ज्ञान के लिए) संसार सम्पत्ति की कामना के लिए (कामसुगति भूमि की प्राप्ति के लिए) तथा ऋद्धिविध आदि पाँच अभिज्ञाओं की प्राप्ति के लिए, इन चार समाधि के फलों को जानकर समाधि की भावना की जाती है ॥ ४७० ॥

(विशुद्धिमार्ग[1] में समाधि भावना के पाँच फल बताये गये हैं, पर ऊपर की गाथा में चार फल का ही निर्देश किया गया है, और पाँचवा फल निरोधसमापत्ति का उल्लेख यहाँ नहीं है पर 'निब्बत्तेन्ति' के माध्यम से निरोधसमापत्ति का निर्देश किया गया प्रतीत होता है।)

श्रेष्ठ भावना में रत (क्षीणाश्रव) क्लेशों के संक्षोभ के अभाव में विवेकजन्य प्रीति सुख से युक्त हो कर दृष्टधर्म (इसी जन्म में सुखपूर्वक विहार करता है) का अनुभव करता है[2] ॥ ४७१ ॥

वह पृथ्वीतल में भिक्षु कश्यप की तरह दर्शनीय, भिक्षु सारिपुत्र की तरह प्रज्ञावान्, तथा मोग्गलायन की भाँति महाऋद्धिमान् होता है ॥ ४७२ ॥

भिक्षु राष्ट्रपाल के जैसा निःसङ्ग (विरक्त), नन्द के जैसा इन्द्रियसंयमी, तथा सहनशीलता में भिक्षु पुण्ण सुनापरन्त के जैसा अति विश्रुत होता है ॥ ४७३ ॥

चीवर आदि प्रत्ययों में सन्तुष्ट तथा आर्यबंस का अनुपालक होता है। साथ ही विज्ञपुरुषों तथा अपने साथियों से सर्वदा सम्मानित तथा पूजित होता है ॥ ४७४ ॥

भिक्षु मन्तानिपुत्र की तरह पूर्ण, शोणस्थविर के जैसा वीर्यवान् तथा अनुरुद्ध आदि महास्थविरों के जैसा निरामिष-लोकोत्तर यश का भागी होता है ॥ ४७५ ॥

अरति रति को सहने वाला अलाभ से चिन्तित नहीं होता है तथा उसका मन एकान्तजन्य प्रीति से युक्त विहार सम्पन्न होता है ॥ ४७६ ॥

आध्यात्मिक सुख में लीन मन को भावनाभव कहते हैं। ऐसे निरालम्ब मानस महापुरुषों के द्वारा सेवित होता है ॥ ४७७ ॥

---

1. द्र. वि. म. पृ. ३०८, ३०९ ।
2. विविच्चेव कामेहि विविच्च अकुसलेहि धम्मेहि सवितक्कं सविचारं विवेकजं पीतिसुखं पठमं झानं उपसम्पज्ज विहरति । विभ., पृ. २९५ ।

निस्सङ्गो रट्ठपालो व नन्दोविन्द्रियसंवुतो ।
पुण्णो सुनापरन्तो व खन्तिया अतिविस्सुतो ॥ ४७३ ॥

चीवरादिसु सन्तुट्ठो' रियवंसानुपालको ।
सम्भावितो च विञ्ञूहि सदा सब्रह्मचारिहि ॥ ४७४ ॥

पुण्णो मन्तानिपुत्तो व सोणत्थेरो व विरियवा ।
निरामिसयसो भागी अनुरुद्धादिका विय ॥ ४७५ ॥

अरतिरतिसहो होति नालाभे परितस्सति ।
पविवेकभवा पीति फरते तस्स मानसं ॥ ४७६ ॥

निरामिसं सुखं एव मनन्तं भावनाभवं ।
मानसं अपरायत्तं महापुरिससेवितं ॥ ४७७ ॥

भावितत्तो'नुभोतीह तिदसिन्दसुखाधिकं ।
दिट्ठधम्मे सुखं झानं इति तस्मा विभावितं ॥ ४७८ ॥

अनाविलम्हि चित्तम्हि फासु होति विपस्सितुं ।
अनाविलम्हि उदके मुखस्सोलोकनं विय ॥ ४७९ ॥

अपरिहीनझानस्स यथाधिकवसेन हि ।
रूपारूपभवे होति भभवो'नन्तगुणोदयो ॥ ४८० ॥

भावनाबलयुत्तस्स अभिञ्ञापि समिज्झरे ।
साधु साधितविज्जस्स विसेसा इव मन्तजा ॥ ४८१ ॥

जो ध्यान भावना के अनुभव का सुख है वह इन्द्र के सुख से भी अधिक है। क्योंकि दृष्ट-धर्म निर्वाण सुख से युक्त ध्यान का महत्त्व स्पष्ट है ॥ ४७८ ॥

जैसे मलरहित साफ जल में अपना मुख साफ और स्पष्ट दीखता है उसी प्रकार मलरहित निर्मल चित्त से विपश्यना भावना सुखद होती है ॥ ४७९ ॥

अपरिहीन ध्यान के उत्तरोतर वृद्धि के योग से रूपभूमि और अरूपभूमि की प्राप्ति होती है जिसकी प्राप्ति से अनन्त गुणों का उदय होता है ॥ ४८० ॥

भावनाबल से युक्त योगी पाँच अभिज्ञाओं अर्थात् विशिष्ट ज्ञान को प्राप्त करने में उसी प्रकार सफल होता है जिस तरह अच्छी प्रकार से साधित विद्यावाले पुरुष विशेष प्रकार से मन्त्र की सिद्धि प्राप्त करता है ॥ ४८१ ॥

इद्धिविध[1], परचित्तविजानन, पूर्वनिवासानुस्मृति, दिब्यचक्षु, तथा दिव्यश्रोत्र ये पाँच अभिज्ञाएँ (विशिष्ट ज्ञान) हैं ॥ ४८२ ॥

इन अभिज्ञाओं की भावना को पूर्ण करने वाला का चित्त वशवर्ती होता हैं ऐसे योगी के लिए तप (समाधि भावना) अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होते हैं ऐसा जानकर समाधि भावना करनी चाहिए ॥ ४८३ ॥

सुनेत्र सात वर्षो तक उत्तम मैत्री की भावना कर सात संवर्त कल्प तक इस लोक में पुनः नहीं उत्पन्न हुआ ॥ ४८४ ॥

उसी कर्म के फलस्वरूप संवर्त और विवर्त तक ब्रह्मलोक में ही संसरण करता रहा तथा छत्तिस वार देवेन्द्र हुआ ॥ ४८५ ॥

अनेक सौ बार वह महायशस्वी चक्रवर्ती हुआ ऐसा सुनकर इससे अधिक भावना के आनृशंस (गुण) को कौन कह सकता है ॥ ४८६ ॥

अनित्यता एवं अनन्तसंज्ञा[2] (अरूपावचर ध्यान) की भावना मैत्री आदि भावनाओं से भी महान फल देनेवाली है, उन भावनाओं के फल एवं महत्त्व का वर्णन सीमित ज्ञानवाले क्या कर सकते हैं ॥ ४८७ ॥

---

1. द्र. सो अनेकविहितं इद्धिविधं पच्चनुभोति-एको पि हुत्वा बहुधा होती ति आदिना नयेन इद्धिविधं, दिब्बसोत-धातुञाणं, चेतोपरियञाणं, पुब्बेनिवासानुस्सतिञाणं, सत्तानं चुतूपपाते ञाणं ति पञ्च लोकिकाभिञ्ञा वुत्ता । वि. म. पृ. ३१३ ॥
2. अनन्त आकाश, अनन्त चक्कवाळ, अनन्तसत्तनिकाय तथा अनन्तबुद्ध ज्ञान । द्र. अ. सा. पृ. २६४ ॥

इद्धि परचित्तञाणञ्च पुरिमजाति-अनुस्सति ।
दिब्बचक्खुञ्च सोतञ्च पञ्चाभिञ्ञा इमा मता ॥ ४८२ ॥

इमापि भावितत्तस्स सचित्तवसवत्तिका ।
तपोविसेसा होन्तीति भावेतब्बा हि भावना ॥ ४८३ ॥

सुनेत्तो सत्तवस्सानि भावेत्वा मेत्तमुत्तमं ।
सत्तसंवट्टकप्पेसु नेमं लोकं पुनागमि ॥ ४८४ ॥

संवट्टे च विवट्टे च ब्रह्मलोकें'व संसरी ।
छत्तिंसक्खत्तुं देविन्दो आसि तेनेव कम्मुना ॥ ४८५ ॥

अनेकसतक्खत्तुं सो चक्कवत्ति महायसो ।
आसीति सुत्वा किं अञ्ञं भावनावण्णनं वदे ॥ ४८६ ॥

अनिच्चानन्तसञ्ञायो मेत्तातो पि महप्फलो ।
तासं फलमहत्तं को पदेसञ्ञूपवण्णये ॥ ४८७ ॥

डहन्ता व उदेन्तीह भवतण्हं यतो हि ता ।
अतिमन्दो पि अग्गीव वत्तमानो सकासयं ॥ ४८८ ॥

ततो ता सत्तसङ्खारे असिलिट्ठस्स भावतो ।
मेत्तातो पि विसिट्ठाति वुत्ता निब्बानमग्गदा ॥ ४८९ ॥

वेलामदाने पट्ठाय याव मेत्तादिकं फलं ।
वत्वा अनिच्चसञ्ञन्तु अच्छराघातकालिकं ॥ ४९० ॥

जिस तरह इन्धन के अवशिष्ट रह जाने तक अग्निज्वाला मन्द होने पर भी जलाते रहती है, उसी प्रकार इन भावनाओं के अनन्तर भी भवतृष्णा उत्पन्न होती रहती है ॥ ४८८ ॥

तदनन्तर योगी संस्कारों के उदय-व्यय की भावना करता है। यह भावना मैत्री आदि भावना से भी विशिष्ट है, ऐसा निर्वाणमार्ग को बतलाने वाले भगवान् बुद्ध ने बतलाया है ॥ ४८९ ॥

वेस्सन्तर राजा के महान दान से लेकर मैत्री भावना के फल को बताकर क्षणमात्र की अनित्यता की भावना के महत् महत्त्व प्रतिपादित करते हुए कहा है ॥ ४९० ॥

संसार सागर में द्वीपभूत तीनों लोकों के नायक (भगवान् बुद्ध) ने उससे भी अधिक श्रेष्ठ फल प्रदान करने वाली भावना को दर्शाया है जो सभी सिद्धियों को देने वाली है ॥ ४९१ ॥

इसलिए संसार रूपी घोर नरक से मुक्ति चाहने वाले पण्डित महान-गुणवाला अनित्यसंज्ञा की ही हमेशा भावना करें ॥ ४९२ ॥

कर्मस्थान में चित्त को लगाते हुए एकाग्रता के बाधक नीवरणों को समाप्त कर काम पर विजय प्राप्त करते हुए ॥ ४९३ ॥

रूप के गरुभार को समाप्त कर अरूपभव की आसक्ति को छोड़कर संसार के सम्पूर्ण पदार्थों को क्षणभङ्गुर जानकर श्रेष्ठ (वीर्य) पराक्रम उत्पन्न करते हुए ॥ ४९४ ॥

बोधिपाक्षिक धर्मों की भावना कर भावनाबल को प्राप्त योगी जरा, मृत्यु से रहित हो, वीर पुरुषों की भाँति विगतक्लेश हो जायें ॥ ४९५ ॥

जिसको प्राप्त करना सरल नहीं ऐसा अद्‌भुत अतुल्य, नित्य, रोग रहित, शोक रहित अत्यन्त शान्त निर्वाण पुर का शीघ्रता से सेवन करें, श्रेष्ठ क्षणों को निरर्थक न जाने दें ॥ ४९६ ॥

ततो महप्फलतरं इदं ति परिदीपयी ।
दीपभूतो तिलोकस्स नायको सिद्धिदायको ॥ ४९१ ॥

तस्मा अनिच्चसञ्ञा'व भावेय्य सततं बुधो ।
संसारघोरनरका मुत्तिकामो महागुणं ॥ ४९२ ॥

कम्मट्ठानट्ठाने पतिट्ठापेत्वान चित्तमरिभूते ।
नीवरणे भञ्जित्वा कामरणञ्जयं करित्वान ॥ ४९३ ॥

रूपगरुभारमुज्झिय अरूपलोके पि सङ्गमपहाय ।
चलमितिभवगतमखिलं ञत्वा कत्वान विरियवरं ॥ ४९४ ॥

बोधिपक्खियधम्मे भावेत्वाभावनाबलप्पत्ता ।
गतमरणमरणमजरं विगतरणं वीरपुरिसगतं ॥ ४९५ ॥

असुलभमब्भुतमतुलं निच्चं नीरुजं असोकमतिसन्तं ।
खणवरमविरोधेन्ता निब्बानपुरं भजथ खिप्पं ॥ ४९६॥

१०. पत्तिदानानिसंस-गाथा

अत्तत्थमनपेखित्वा परत्थं दीयते यतो ।
करुणाकतञ्ञुतायोगा पत्तिदानं विसेसितं ॥ ४९७ ॥

पतिकारपरे लोके आसादासब्यतंगते ।
उपकारसमत्थस्स सतो को न करेय्य किं ॥ ४९८ ॥

मतस्स कम्मदोसेन पेतभूतस्स जन्तुनो ।
इह वा व्यसनट्ठस्स उपकत्ता सुदुल्लभो ॥ ४९९ ॥

१०. पत्तिदानानिसंस गाथा

प्राप्त पुण्य-दान के माहात्म्य की गाथा

अपने लिए अपेक्षा न कर दूसरों के लिए यस्मात् दे देता है इसलिए करुणा और कृतज्ञता के योग से युक्त प्राप्त पुण्य के दान का अत्यन्त महत्त्व है ॥ ४९७ ॥

प्रत्युपकार की भावना से युक्त, आशा की दासता से मुक्त, तथा उपकार करने में समर्थ जागरुक पुरुष को कौन क्या नहीं कर सकता है ॥ ४९८ ॥

कर्मदोष से प्रेत हुए प्राणियों को अथवा इस संसार में दुर्भाग्य में स्थित लोगों को उपकार करने वाला अत्यन्त दुर्लभ है ॥ ४९९ ॥

अंहकार रहित पुरुष द्वारा दिये गये दान का जो महात्म्य निर्दिष्ट किया गया, वे सभी गुणविशेष (पत्तिदान) प्राप्त पुण्य के दान से होता है ऐसा जानना चाहिए ॥ ५०० ॥

दूसरों द्वारा दी गई जीविका का यदि वे (प्रेत) अनुमोदन करते हैं, और प्रेत दान को ग्रहण करता है, तो वह पत्तिदान फल उसके पास पहुंच जाता है ॥ ५०१ ॥

जो-जो दानवस्तु उसको उद्देश्य कर देते हैं, वे दान वस्तुएं उसे उसी क्षण प्राप्त हो जाते हैं इसमें सन्देह नहीं है ॥ ५०२ ॥

अपनी प्रेत वनी माता के लिए दिये गये दान से शारिपुत्र की इच्छा पूर्ण हुई और उनको ज्ञानियों में श्रेष्ठ कहा गया। इस उदाहरण से 'पत्तिदान' के प्रति सन्देह को दूर करना चाहिए ॥ ५०३ ॥

(इसे ही उद्दिस्सिक पत्ति कहते हैं। किसी एक प्रेत व्यक्ति के उद्देश्य से दिये गये समभाग को 'उद्दिस्सिक पत्ति' कहते हैं। यहाँ माता को उद्देश्य कर शारिपुत्र ने जो पत्तिदान किया उससे सारिपुत्र का सन्देह दूर हो गया और ज्ञान की प्राप्ति के द्वारा निर्वाण का साक्षात्कार किया)।

उसके (माता के) अभाव में अन्य स्वजनों के पास पुण्यफल रूप दान पहुँचता है। स्वजनों के अभाव में दिये गये पत्तिदान का दृष्टफल प्राप्त नहीं होता है ॥ ५०४ ॥

(अट्ठकथाओं में 'अनुद्दिस्सिक पत्ति' का आख्यान किया गया हैं, किसी एक व्यक्ति के उद्देश्य से नहीं, अपितु सम्पूर्ण प्राणियों के उद्देश्य से दिये गये समभाग

ये आनिसंसा निद्दिट्ठा दाने मानप्पहायिना ।
सविसेसा'व ते सब्बे पत्तिदाने पि वेदिया ॥ ५०० ॥

यदि ते अनुमोदन्ति परदत्तूपजीविका ।
पेता दानं परिग्गय्ह तेसं तं उपकप्पति ॥ ५०१ ॥

यं यं तं उद्दिसित्वान दानवत्थुपदीयते ।
तं तं तस्स खणेनेव उप्पज्जति असंसयं ॥ ५०२ ॥

इतीदं सारिपुत्तस्स मातुपेताय दानतो ।
साधितब्बन्तु सन्देहविगमत्थं विजानता ॥ ५०३ ॥

तस्साभावे पि अञ्ञस्स सजनस्सोपकप्पति ।
तस्मिं सन्ते असन्ते पि दायका तु अनिप्फला ॥ ५०४ ॥

संसारे अनमत्तग्गे सो लोको तस्स ञातिहि ।
सुञ्ञो अस्साति अट्ठानं इति ञेय्यं हि युत्तितो ॥ ५०५ ॥

यस्स तस्स मनुस्सस्स उक्कट्ठा लामकापि वा ।
पच्चया सुलभा एव विरियेन परियेसतो ॥ ५०६ ॥

पेता हि नेकवस्सानि खुप्पिपासातुरा पि च ।
पच्चया न लभन्तेव गवेसन्तापि सब्बसो ॥ ५०७ ॥

तेसं सकम्मदोसेन सन्नानं व्यसनण्णवे ।
व्यसनापगमोपायमत्थीति सुविनिच्छितं ।
अकरोन्तो चरे यो हि तम्हा निक्करुणो नु को ॥ ५०८ ॥

को 'अनुद्दिस्सिक पत्ति' कहते हैं। अनुद्दिस्सिंक पत्ति का साधुवाद किये जाने पर दृष्टधर्मफल की प्राप्ति सम्बन्धी कोई कथा उपलब्ध नहीं है पर उसका फल भी महान होता[1] है।)

इस अनमतग्ग (जिसका आदि अन्त का पता न हो उसे अनमतग्ग कहते हैं) संसार में ऐसा लोक नहीं है जो उसके सगे सम्बन्धियों से शून्य है अतः ऐसा युक्ति से जानना चाहिए कि इन लोगों में मेरे सगे सम्बन्धी अवश्य होंगे। ऐसा जान कर सम्पूर्ण प्राणियों को उद्देश्य कर पत्तिदान करना चाहिए ॥ ५०५ ॥

जिस किसी मनुष्य को उत्कृष्ट या निकृष्ट प्रत्यय (भोजनादि) अत्यन्त परिश्रमपूर्वक खोज करने पर सुलभ हो जाते हैं ॥ ५०६ ॥

परिश्रमपूर्वक प्रत्ययों के खोज करने पर भी अनेक वर्षों तक क्षुधा एवं पिपासा से आतुर प्रेत सर्वत्र प्रत्ययों को पाने के लिए प्रयास करते हैं पर प्रत्यय (भोजन, वस्त्रादि) उन्हें प्राप्त नहीं होते ॥ ५०७ ॥

स्वयं के कर्म दोष से दुर्गति रूप समुद्र मे पड़े वे प्रेत दुर्गति नष्ट करने के उपाय सुविनिश्चित होने पर भी उस उपाय को नहीं करते हुए विचरण करते हैं, उन पर कौन करुणा करके 'पत्तिदान' द्वारा उनका उद्धार करें ॥ ५०८ ॥

इसलिए शान्त, कृतज्ञ और कृतज्ञता को जाननेवाले सत्पुरुष करुणा से प्रेरित हो प्रेतदान आदि पत्ति (प्राप्त पुण्य) का दान देते हैं ॥ ५०९ ॥

११. अनुमोदनानिसंस-गाथा

दूसरों द्वारा दिये गये कुशल भाग का अनुमोदन करने के गुणों की गाथा

दूसरों द्वारा दिये गये कुशल भाग का अनुमोदन करने की कारणभूत चेतना 'पत्तानुमोदन' है[2]।

---

1. प. दी. पृ. २०१।
2. पत्ति. अनुमोदति एताया ति 'पत्तानुमोदना'। विभा. पृ. १३३।
तदेव परेहि दिन्नं अनुमोदन्ति, साधुकारं ददन्ति एतेनाति पत्तानुमोदनं। प. दी. पृ. १९८॥
परेहि दिन्नाय पत्तिया 'साधु, सुट्ठु' ति अनुमोदनवसेन "पत्तब्भनुमोदनं वेदतब्बं।" दी. नि. अ., तृ. भा. पृ. १८२।
परेहि दिन्नाय पत्तिया वा अञ्ञाय वा पुञ्ञकिरियाय 'साधु सुट्ठू' ति अनुमोदनवसेन 'अब्भनुमोदनं' वेदितब्बं। अट्ठ. पृ. २६३।

तस्मा सन्तो सप्पुरिसा कतञ्ञू कतवेदिनो ।
पेतदानादिकं पत्ति देन्ति कारुञ्ञचोदिता ॥ ५०९ ॥

११. अनुमोदनानिसंस-गाथा

इस्साव्यापादमच्छेरं विहिंसा चापि नासिय ।
गुणाराधितचित्तो यं अनुमोदति मोदको ॥ ५१० ॥

यतो ततो महेसक्खो सुरूपो भोगवापि च ।
दीघायुको सदा हट्ठो होति पुञ्ञानुमोदको ॥ ५११ ॥

विस्सज्जेत्वान निस्सङ्गं चतुपञ्ञास कोटियो ।
कत्वा जेतवने रम्मे विहारं चारुदस्सनं ॥ ५१२ ॥

सोण्णभिङ्कारहत्थस्स सुदत्तस्स सिरीमतो ।
दिस्वा सब्बञ्ञुबुद्धस्स सङ्घस्स ददतो सिरिं ॥ ५१३ ॥

अहो दानन्ति बहुसो उदानं अब्भुदीरयं ।
मानवो अनुमोदन्तो अदेन्तो काकणम्पि च ।
दायकतो पि अधिकं अलत्थ कुसलोदयं ॥ ५१४ ॥

अकत्वा कायवाचाहि अदत्वा किञ्चि हत्थतो ।
चित्तप्पसादमत्तो पि यदि एवं फलावहो ॥ ५१५ ॥

अनुमोदनजं पुञ्ञं चित्तायत्तम्महाफलं ।
अकरोन्तो चरन्तो हि सोचनीयो अयं जनो ॥ ५१६ ॥

इर्ष्या, द्वेष, मात्सर्य तथा विहिंसा को नाश कर प्रसन्न रहने वाला व्यक्ति गुणीजनों का अनुमोदन करता है ॥ ५१० ॥

पुण्य (कुशल का) का अनुमोदन करने वाला जहाँ-जहाँ उत्पन्न होता हैं वहाँ-वहाँ महातेजस्वी, सुन्दर रूपवाला, भोगवाला, दीर्घायु तथा सर्वदा प्रसन्न रहने वाला होता है ॥ ५११ ॥

त्याग पूर्वक दान करते हुए चौवन करोड़ की लागत से जेतवन आराम में एक सुन्दर विहार का निर्माण कराया ॥ ५१२ ॥

जलपूर्ण स्वर्ण झारी हाथ में लेकर ऐश्वर्यवान ने सर्वज्ञ बुद्ध को देखकर उनके संघ को दान दिया जिसके फलस्वरूप श्री एवं ऐश्वर्य को प्राप्त किया ॥ ५१३ ॥

अहो दान! अहो दान! (यह बहुत बड़ा दान है) यदि अनेक लोग इस प्रीति वाक्य का उद्दीरण करते हैं, तथा जो कौड़ी का भी दान नहीं करता है वह मनुष्य भी उसका अनुमोदन करता है तो वह उन दान देने वाले से भी अधिक कुशल की प्राप्ति करता है ॥ ५१४ ॥

काय एवं वचन के द्वारा न करके, हाथ से कुछ नहीं दान करने पर भी यदि चित्त की प्रसन्नता मात्र ही इतना पुण्यफल दायक है ॥ ५१५ ॥

अनुमोदन ज़न्य पुण्य को जो चित्त प्रसन्नता से प्राप्त होता है, उस महाफल को नहीं प्राप्त कर बिहार करते हैं वे पुरुष सर्वदा सोचनीय हैं ॥ ५१६ ॥

१२. देसनानिसंस-गाथा

देशना के सुपरिणामों की गाथा

लाभ, सत्कार, यश आदि की इच्छा न करके सत्त्वों के हित सुख के लिए पवित्र चेतना द्वारा की गई धर्म देशना 'कुशल-धर्मदेशना' कही जाती है। ऐसी धर्मदेशना के शुभ परिणामों का वर्णन प्रस्तुत गाथाओं के माध्यम से किया गया है, इसलिए इसका नाम 'देशनानिसंस-गाथा है।

अनेक प्रकार से स्त्री, पुत्र, नेत्र आदि को दान कर श्रेष्ठ वीर्य (पराक्रम) के द्वारा प्राप्त धर्म का जो श्रद्धा से देशना करता है। उसे ही देशना कहते हैं॥५१७॥

१२. देसनानिसंस-गाथा

दारदारकनेत्तादि दानं दत्वा अनेकसो ।
वीरविरियेन यो लद्धं धम्मं देसेति सद्धया ॥ ५१७ ॥

अपत्थेन्तो यसोलाभसक्कारादीनि अत्तनो ।
हितज्झासयतो एव सत्थु किच्चकरो 'व सो ॥ ५१८ ॥

देसकस्स अभावेन यतो अप्परजक्खका ।
बहू संविज्जमानापि न फुसन्तेव निब्बुतिं ॥ ५१९ ॥

तस्मा सक्कच्च सद्धम्मं उग्गहेत्वा यथातथं ।
सद्धम्मगरुको हुत्वा अविञ्ञातं अवेदयं ॥ ५२० ॥

सत्थुनो पटिपत्तीव चरन्तो परहेतुकं ।
अनामिसगरू हुत्वा धम्मं देसेय्य पण्डितो ॥ ५२१ ॥

सब्बदानं धम्मदानं जिनातीति जिनो ब्रवि ।
देसयी देसकवरो देसना दुल्लभा ति च ॥ ५२२ ॥

अत्थो पदीयमानो हि ततो खिप्पं विगच्छति ।
धम्मो पदीयमानो हि उभयत्थाभिवड्ढति ॥ ५२३ ॥

योनिसो मनसिकारो अथो सद्धम्मदेसना ।
मग्गञाणस्स हेतूति वुत्तो मग्गञ्ञुना सदा ॥ ५२४ ॥

जो अपना यश, लाभ, सत्कार आदि की इच्छा न कर दूसरे की हित की इच्छा से धर्म की देशना करता है वह शास्ता के कृत्य का सम्पादन करने वाला होता है ॥ ५१८ ॥

उपदेष्टा के अभाव में अल्पमलवाले प्राणी जिनकी संख्या अनेक हैं निर्वाण का स्पर्श नहीं करते। अर्थात् निर्वाण प्राप्त नहीं करते ॥ ५१९ ॥

इसलिए सद्धर्म का सावधानीपूर्वक यथातथ्य सीखकर सद्धर्मगुरु होकर अज्ञानी जनों को बतावें। धर्म की देशना करें ॥ ५२० ॥

शास्ता के धार्मिक क्रियाकलापों की तरह दूसरों के हित के लिए विचरण करते हुए लोकोत्तर गुरु (आध्यात्मिक गुरु) होकर पण्डितजन धर्म की देशना करें ॥ ५२१ ॥

धर्म का दान सब दानों को जीत लेता है, ऐसा भगवान् बुद्ध ने कहा है। इसलिए श्रेष्ठ उपदेष्टा ने देशना की है क्योंकि धर्म देशना करना अत्यन्त दुर्लभ है ॥ ५२२ ॥

धन देने पर शीघ्र नष्ट हो जाता है पर धर्मदेशना रूप दान करने पर धन तथा धर्म दोनों बढ़ते हैं अथवा यह लोक तथा परलोक दोनों बनते हैं ॥ ५२३ ॥

योनिशो मनसिकार (अच्छी प्रकार धारण करना) और सद्धर्म की देशना मार्ग ज्ञान का हेतु है ऐसा मार्गज्ञानी (भगवान् बुद्ध ने) ने सर्वदा कहा है ॥ ५२४ ॥

धर्मों के स्वभाव का ज्ञान तथा संसार के दुर्गुणों का ज्ञान और चार आर्यसत्यों का यथाभूत ज्ञान ये सब देशना के द्वारा ही सम्भव है ॥ ५२५ ॥

अतः उपदेष्टा सभी सम्पत्तियों के कारणभूत धर्म की देशना करता है इसीलिए इस लोक में सर्वसम्पत्ति रूप फल को प्राप्त करता है ॥ ५२६ ॥

इस प्रकार देशना के महान फल को जानकर समर्थ होने पर भी जो दुर्लभ सद्धर्म की देशना नहीं करता उसका जीवन व्यर्थ है ॥ ५२७ ॥

सभावञाणं धम्मानं संसारादीनवञ्ञुता ।
सच्चानञ्चाभिसमयो सब्बे ते देसना भवा ॥ ५२५ ॥

यतो यं देसको धम्मं सब्बसम्पत्तिकारणं ।
देसेति तस्मा तस्सीध सब्बसम्पत्तियो फलं ॥ ५२६ ॥

एवम्महानिसंसम्पि यो सद्धम्मं सुदुल्लभं ।
समत्थो पि न देसेति विफलन्तस्स जीवितं ॥ ५२७ ॥

१३. सवनानिसंस-गाथा

सद्धम्मं सुणमानस्स यो हि अत्थानुसारिनो ।
पमोदो निधिलद्धस्स दळिद्दस्सापि नत्थि सो ॥ ५२८ ॥

किलेसमक्खिका चित्तं सन्तत्तं सवणग्गिना ।
नाल्लीयन्ति सन्तत्तं अयोपिण्डं व मक्खिका ॥ ५२९ ॥

पञ्ञवा सुणमानो हि सद्धम्मं बुद्धदेसितं ।
सुगम्भीरमवितथं मधुरं अमतं विय ॥ ५३० ॥

लभते परमं पीतिं देविन्देनापि दुल्लभं ।
तदेवालम्फलन्तस्स मा होतु परलोकिकं ॥ ५३१ ॥

सद्धम्मस्सीध गहणं न होति सवणं विना ।
गहणेन विना अत्थ परिक्खा नोपजायति ॥ ५३२ ॥

अत्थन्तु अपरिक्खन्तो अत्तनो वा परस्स वा ।
असमत्थो'व सो होति हितत्थपटिपत्तिया ॥ ५३३ ॥

१३. सवनानिसंस-गाथा

धर्मश्रवण[1] के माहात्म्य की गाथा

सद्धर्म को सुननेवाले तथा तदनुसार आचरण करने वाले को जितना आनन्द प्राप्त होता है, उतना प्रमोद (आनन्द) कोषागार प्राप्त कर लेने वाले दलिद्र को भी नहीं हो सकता ॥ ५२८ ॥

जिस प्रकार सन्तप्त लौह-पिण्ड पर मक्षिका लिप्त नहीं होती उसी प्रकार धर्मश्रवण रूप अग्नि से सन्तप्त चित्त में क्लेश रूपी मक्षिकाओं का प्रवेश नहीं होता ॥ ५२९ ॥

बुद्धोपदिष्ट गम्भीर, तथ्ययुक्त, स्पष्ट, मधुर तथा अमृत सदृश सद्धर्म को प्रज्ञावान् सुनते हुए ॥ ५३० ॥

इन्द्र को भी जो प्रीति प्राप्त नहीं होती वैसी दुर्लभ परम प्रीति को प्राप्त करता है। उस बुद्धोपदिष्ट देशना का पारलौकिक फल भी कम नहीं होता अपितु परलोक में भी उसका महान फल होता है ॥ ५३१ ॥

सद्धर्मश्रवण के विना इस लोक में सद्धर्म का ग्रहण नहीं होता और सद्धर्मग्रहण के विना अर्थ की परीक्षा नहीं हो सकती ॥ ५३२ ॥

अर्थ के परीक्षण के अभाव में अपना तथा दूसरों की हितचर्या में वह असमर्थ होता है ॥ ५३३ ॥

बुद्धवचन (त्रिपिटक) के विना धर्म कहीं भी ठहर नहीं सकता और श्रवण के विना बुद्धवचनों को स्मरण रखना कठिन है इसलिए भी धर्मश्रवण करना श्रेष्ठ है ॥ ५३४ ॥

क्योंकि अनेक सौ कल्पों तक शास्ता द्वारा उत्साहित करने पर भी धर्मश्रवण के विना सद्धर्म में प्रतिष्ठा नहीं हो सकती है ॥ ५३५ ॥

अतः उससे भी अधिक उत्साह के साथ धर्म श्रवण के महत्त्व को देखकर निर्वाणदर्शी को सद्धर्म को सुनना चाहिए ॥ ५३६ ॥

---

1. लोकप्रशंसा की अपेक्षा न करके अपने ज्ञान के लिए तथा दूसरों को ठीक तरह से धर्म देशना करने के लिए धर्म श्रवण करना 'धम्मसवन' है।
अ. सा. पृ. १३०, विभ. पृ. १३४, प. दी. पृ. २०१।

परियत्तिं विना धम्मो न तिट्ठति कुदाचनं ।
सवणं विना परियत्ति तस्मापि सवणं वरं ॥ ५३४ ॥

नेककप्पसतुस्साहसमानीतो पि सत्थुना ।
सद्धम्मो न पतिट्ठाति सवणेन विना यतो ॥ ५३५ ॥

ततो तस्सापि उस्साहविसेसं सम्पेक्खिय ।
सोतब्बो एव सद्धम्मो अपि निब्बानदस्सिना ॥ ५३६ ॥

यं पञ्ञाबुद्धिकरणं सद्धम्मट्ठितिकारणं ।
फलं तस्स पमातुं को समत्थो सुगतं विना ॥ ५३७ ॥

देवरज्जम्पि साधेतुं समत्थेनापि तं खणे ।
अनादियित्वा तं धम्मो सोतब्बो सुगतागतो ॥ ५३८ ॥

१४. पूजानिसंस-गाथा

मानं परिच्चजित्वान उप्पादेत्वान गारवं ।
गुणं उपपरिक्खित्वा उपकारं व तादिसं ॥ ५३९ ॥

बुद्धादीसु गुणड्ढेसु, उपकारीसु वापि च ।
सद्धाकतञ्ञुतापञ्ञागारवादीहि मण्डितो ।
यतो करोति पूजं यो भावतो वन्दनादिहि ॥ ५४० ॥

ततो सो जायती अड्ढे कुलम्हि उदितोदितो ।
असङ्कितेहि सत्तेहि भावतो बन्दनारहे ॥ ५४१ ॥

परत्थ पूजको सन्तो यत्थ यत्थूपपज्जति ।
तत्थ तत्थ विसिट्ठं सो ठानं लभति पूजियं ॥ ५४२ ॥

जो धर्मश्रवण प्रज्ञा एवं बुद्धि को बढ़ानेवाला तथा सद्धर्म को स्थित रखनेवाला है, ऐसा सद्धर्मश्रवण के महत्त्व एवं फल को भगवान् बुद्ध के विना कौन नाप सकता है, अर्थात् कौन बता सकता है ॥ ५३७ ॥

देवताओं के राज्य को भी उसी क्षण दिलाने में समर्थ होने पर भी वैसे धर्म को त्यागकर सुगत प्रतिपादित धर्म का श्रवण करना चाहिए क्योंकि सुगत-धर्म ही श्रोतव्य है ॥ ५३८ ॥

१४. पूजानिसंस गाथा

पूजा[1] के माहत्म्य की गाथा

मान को छोड़कर आदरभाव उत्पन्न कर गुण की परीक्षा कर तथा उसी प्रकार उपकार का स्मरण कर ॥ ५३९ ॥

श्रद्धा और कृतज्ञता से युक्त होकर प्रज्ञा और गौरव से मण्डित हो, भाव से युक्त होकर वन्दनादि के द्वारा जो पूजा करता है ॥ ५४० ॥

वह वन्दनीय पुरुष की भावना करने से धनाढ्य तथा देदिप्यमान कुल में उत्पन्न होता है। निर्भय, प्राणियों में श्रद्धा से पूजने योग्य होता है ॥ ५४१ ॥

पूजा करने वाला सन्त परलोक में जहाँ-जहाँ भी उत्पन्न होता है वहाँ-वहाँ विशिष्ट स्थान को प्राप्त करता है तथा पूज्य होता है[2] ॥ ५४२ ॥

प्रसादनीय वस्तु में प्रसन्नत के फलस्वरूप मनुष्य सभी अङ्गप्रत्यङ्गो से परिपूर्ण तथा सर्वदा प्रसन्न मुख होता है। अत्यन्त सुन्दर होता है ॥ ५४३ ॥

---

1. कुशल चेतना से युक्त होकर अभिवादन करना, अभ्युत्थान करना एवं आदर व्यक्त करना पूजा है। इसे अन्य पालि ग्रन्थों में 'अपचायन' शब्द से अभिहित किया गया है। माता, पिता, गुरू एवं धर्म का पालन करने वाले श्रमण एवं ब्राह्मणों के प्रति सम्मान व्यक्त करना एवं उनका अभिवादन करना आदि, जो अपने लाभ या यश के लिए नहीं होता, अपचायन या पूजा है। पूजा के शुभपरिणामों को 'पूजानिसंस-गाथा' कहा जाता है।
2. रतनत्तये पन मातापितूसु कुले जेट्ठेसु आचरियेसु धम्मिकश्रमणब्राह्मणेसु अञ्ञेसु च गुणवयबुद्धेसु यथारहं पच्चुट्ठानं वन्दनं अञ्जलिकरणं सामिचिकरणं वत्तपटिवत्तकरणं ति एवमादिं सब्बं 'अपचायनं' नाम । प. दी. पृ. २०१ ।
   वयसा गुणेहि च जेट्ठानं चीवरादीसु पच्चासारहितेन असङ्किलिट्ठज्झासयेन पच्चुट्ठान-आसनाभिनीहारादिविधिना बहुमानकरणचेतना 'अपचायनं' नाम । विभा. पृ. १३४ ।
   'महल्लकं पन दिस्वा पच्चुग्गमन-पत्तचीवरपटिग्गहण-अभिवादन-मग्गसम्पदानादिवसेन' अपचितिसहगतं ति वेदितब्बं । अ. सा. पृ. २२९ ।

पसादनीयवत्थुम्हि पसादस्स फलेन हि ।
अनिन्दितङ्गपच्चङ्गो होति पासादिको नरो ॥ ५४३ ॥

कतञ्ञुना गुणवता कतपुञ्ञफलेन हि ।
अकतञ्ञुजनस्सापि कतम्फातिं गमिस्सति ॥ ५४४ ॥

कतञ्ञुनो पि च कतं पुराहि अकतञ्ञुना ।
महापब्बतमत्तम्पि अच्चन्तानुं व दिस्सति ॥ ५४५ ॥

तस्मा पुब्बोपकारिस्स उपकारानि पण्डितो ।
करेय्य हि यथासत्ति कतानि अविनासयं ॥ ५४६ ॥

पञ्ञापुब्बङ्गमं कत्वा पुञ्ञकम्मानि पण्डितो ।
फलोपभोगकालेपि होति अच्चन्तपञ्ञवा ॥ ५४७ ॥

सयं गुणड्ढो हुत्वान गुणड्ढे बुद्धसावके ।
पूजयत्यस्स हि फलं गुणड्ढग्गो व ञस्सति ॥ ५४८ ॥

अभिवादनसीलस्स निच्चं बुद्धापचायिनो ।
चत्तारो धम्मा वड्ढन्ति आयुवण्णो सुखं बलं ॥ ५४९ ॥

एकपुप्फं चजित्वान असीतिं कप्पकोटियो ।
दुग्गतिं नाभिजानामि एक पुप्फस्सिदम्फलं ॥ ५५० ॥

पूजा च पूजनीयानं एतम्मङ्गलमुत्तमं ।
इच्चेवमादिगाथाहि पूजासम्पत्ति दीपिता ॥ ५५१ ॥

कृतज्ञ, गुणवान् द्वारा किये गये पुण्यफल अकृतज्ञ मनुष्य को भी निश्चय ही समृद्धि प्रदान करता है ॥ ५४४ ॥

अकृतज्ञ के द्वारा पहले किए गये बड़े पर्वत के समान उपकार भी कृतज्ञ के उपकार के सामने अत्यन्त छोटा दीखता है ॥ ५४५ ॥

इसलिए पूर्व में उपकार करने वाले के उपकार को स्मरण कर पण्डितजन सदा उसका यथाशक्ति उपकार करें और उनके द्वारा किए गये उपकार को न भूलें ॥ ५४६ ॥

प्रज्ञा को पूर्वगामी बना कर पण्डितजन पुण्य कर्मों को करके फलोपभोग काल में भी अत्यन्त प्रज्ञावान होते हैं ॥ ५४७ ॥

स्वयं गुणवान् होकर गुणवान् बुद्धश्रावकों की पूजा करने के फलस्वरूप वह गुणवानों में अग्रणी के रूप में जाना जाता है ॥ ५४८ ॥

जो अभिवादनशील है तथा जो सदा वृद्धजनों की सेवा करनेवाला है उस मनुष्य की चार वस्तुएँ बढ़ती है-आयु, वर्ण, सुख और बल ॥ ५४९ ॥

एक पुष्प अर्पित करने से अस्सी करोड़ कल्प तक दुर्गति को नहीं जानता हूँ यह श्रद्धा से अर्पित एक पुष्प का फल है ॥ ५५० ॥

पूजयनीय जनों की पूजा करना ही उत्तम मङ्गल है, इत्यादि गाथाओं के द्वारा पूजा सम्पत्ति अर्थात् पूजा का महात्म्य प्रकाशित है ॥ ५५१ ॥

बुद्ध, धर्म एवं संघ को एक बार भी अञ्जलिबद्ध होकर अभिवादन करता है वह भव जन्य दुःख की अग्नि को अशेषतः नष्ट करने में समर्थ होता है ॥ ५५२ ॥

इस नाशवान्, क्षणभङ्गुर, दुर्बल एवं गन्दे शरीर से पूजा के महान फल को प्राप्त किया जा सकता है तो श्रद्धेय जनों की पूजा जन्य इस महान फल को अवश्य प्राप्त करना चाहिए ॥ ५५३ ॥

इस असार शरीर से पुण्य (कुशल) कार्य के द्वारा सार, श्रेष्ठ और सुख की ओर ले जाने वाला मार्ग प्रशस्त हो तो कौन सचेतन प्राणी होगा जो पुण्य कार्यों को नहीं करते हुए विचरण करेगा ? अर्थात् इस असार शरीर से पुण्य का अर्जन करना श्रेयस्कर है ॥ ५५४ ॥

बुद्धे धम्मे च सङ्घे वा कतो एको पि अञ्जली ।
पहोति भवदुक्खग्गिं निब्बापेतुं असेसकं ॥ ५५२ ॥

इमिना पूतिकायेन दुब्बलेन पभङ्गुना ।
अवस्सच्छड्डनीयेन यदि सक्का महाफलं ॥ ५५३ ॥

पुञ्ञं कातुं असारेन सारं वरसुखावहं ।
चरेय्य तं अकत्वान को हि नाम सचेतनो ॥ ५५४ ॥

१५. वेय्यावच्चानिसंस-गाथा

आपदासु सहायानं लाभो इट्ठत्थसिद्धि च ।
परिवारसम्पदा चेति वेय्यावच्चफलम्मता ॥ ५५५ ॥

गिलानगुणवन्तानं दानादिकिरियासु वा ।
वेय्यावच्चाभिसम्भूतं को फलं वण्णयिस्सति ॥ ५५६ ॥

यो गिलानं उपट्ठाति सो उपट्ठाति मं इति ।
महाकारुणिकेनापि सो भुसं परिवण्णितो ॥ ५५७ ॥

सब्बञ्ञुं सब्बदस्साविं सयम्भूं अग्गपुग्गलं ।
उपट्ठाति कथं वा सो किमिदं अब्भुतब्भुतं ॥ ५५८ ॥

परत्थमेव अत्तत्थमिति पस्सति सो मुनि ।
तेनानच्छरियन्तस्स उपकारीव सो नरो ॥ ५५९ ॥

तस्मा गिलानुपट्ठाने सम्मासम्बुद्धवण्णितो ।
महागुणे यथासत्ति करेय्य परमादरं ॥ ५६० ॥

१५. वेय्यावच्चानिसंस[1]-गाथा

सेवा के सद्गुणों की गाथा

दूसरों की सहायता करनेवाले को लाभ, मनोरथ की सिद्धि तथा परिवार सम्पत्ति की प्राप्ति होती है। यह सेवा-शुश्रुषा का फल बताया गया है ॥ ५५५ ॥

रोगी एवं गुणवान् जनों की सेवा तथा दानादि कार्यों के द्वारा दूसरों की सहायता आदि करने से होने वाले महान फल का वर्णन कौन कर सकेगा॥ ५५६॥

जो रोगी की सेवा करता है वह मेरी सेवा करता है ऐसा महाकारुणिक बुद्ध ने भी अनेकों बार कहा है। अतः रोगी और आतुर की सेवा करने का महत्त्व अनेको बार भगवान् बुद्ध ने प्रतिपादित किया है ॥ ५५७ ॥

सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, स्वयम्भू और पुरुषश्रेष्ठ भगवान् बुद्ध भी लोक कल्याण की भावना से सेवा करते हैं यह सेवाभाव का कैसा अद्भुत नमूना है ॥ ५५८ ॥

दूसरों की भलाई में ही अपनी भलाई देखने वाले वह मुनि (बुद्ध) ने यदि सेवा के महत्त्व को प्रतिपादित किया है तो इसमें आश्चर्य न करने वाला सेवा से युक्त होता है और वह उपकारी (बुद्ध की भाँति) ही उपकार रत होता है॥५५९॥

इसलिए सम्यक्सम्बुद्ध द्वारा वर्णित 'रोगी की सेवा' करने के महत्त्व को समझकर यथाशक्ति उस वचन का परमादर करना चाहिए और सेवा के महान गुणों से युक्त होना चाहिए ॥ ५६० ॥

बुद्ध आदि गुणज्ञों की सेवा का क्या गुण या माहात्म्य है इसका वर्णन करने या चिन्तन करने में भी सामान्य मनुष्य असमर्थ है। अथवा गुणज्ञों की सेवा के फल का वर्णन करना समान्य जन के सामर्थ्य के बाहर है ॥ ५६१ ॥

---

1. श्रेष्टजनों की सेवा में संलग्नता ही 'वेय्यावच्च' हैं। जेसे गुरू, माता, पिता एवं रोगी आदि व्यक्तियों की सेवा करना तथा उनके कार्यों में सहायता करना 'वेय्यावच्च' है। जैसा कि अट्ठसालिनी में कहा गया है कि 'वुड्ढतरानं वत्तपटिवत्तकरणवसेन गामं पिण्डाय पविट्ठं भिक्खुं दिस्वा पत्तं गहेत्वा गामे भिक्खं समादपेत्वा उपसंहरणवसेन, 'गच्छ, भिक्खूनं पत्तं आहरा' ति सुत्वा वेगेन गन्त्वा पत्ताहरणादिवसेन च कायवेय्यावटिककाले 'वेय्यावच्च सहगतं 'वेदितब्बं ।' अट्ठ. पृ. १२९ । द्र. विभा. पृ. १३४ । प. दी. पृ. २०१ ।

बुद्धादीनं गुणड्ढानं वेय्यवच्चस्स को गुणं ।
वण्णितुं चिन्तितुं वापि समत्थो अविनायको ॥ ५६१ ॥

पभङ्गुरेन कायेन सुकरं पुञ्ञमुत्तमं ।
न करेय्य कथं विञ्ञू अनुम्मत्तो सचेतनो ॥ ५६२ ॥

१६. सम्पहंसनानिसंस-गाथा

पमोदबहुलो होती सदा सब्भि पसंसियो ।
पसन्नमुखवण्णो च पसंसाभिरतो नरो ॥ ५६३ ॥

पुञ्ञकम्मं करोन्तानं गुणं तस्स विभावयं ।
हासं सञ्जनयित्वान यतो वड्ढेति आदरं ॥ ५६४ ॥

ततो सो जिण्णगेहस्स उपत्थम्भकरो विय ।
लभते विपुलं पञ्ञं पुञ्ञकम्मप्पसंसको ॥ ५६५ ॥

पुञ्ञं असद्दहन्तस्स अञ्ञतो व सुखत्थिनो ।
अन्धभूतस्स लोकस्स अनत्थत्थाभिसङ्गिनो ॥ ५६६ ॥

आलस्सेनाभिभूतस्स अविञ्ञूजनसेविनो ।
पुञ्ञकम्मादरकरो सत्थुकिच्चं व सो करे ॥ ५६७ ॥

ये चानुमोदने वुत्ता गुणा ये चापि देसने ।
ते च योज्जा यथायोगमसेसा सम्पहंसने ॥ ५६८ ॥

यदि इस क्षणभङ्गुर शरीर से श्रेष्ठ पुण्य का अर्जन करना सुलभ है तो विज्ञ सचेतन प्राणी क्यों नहीं उस पुण्य का अणुमात्र भी संचयन करता है। अर्थात् इस क्षणभङ्गुर शरीर से दूसरे की सहायता करने के फलस्वरूप उत्पन्न पुण्य का अवश्य अर्जन करना चाहिए ॥ ५६२ ॥

१६. सम्पहंसनानिसंस-गाथा
सम्प्रहर्ष (प्रसन्नता) के सद्गुणों की गाथा

पुण्यकर्मों की प्रशंसा में रत रहने वाला मनुष्य सदा आनन्दबहुल तथा सज्जनों द्वारा प्रशंसित होता है तथा प्रसन्न मुखवर्ण वाला होता है ॥ ५६३ ॥

पुण्यकर्मों को करने वाले के गुणों को जानने से प्रहर्ष उत्पन्न होता है जिससे गौरव बढ़ता है ॥ ५६४ ॥

जीर्णघर में सहारे के भाँति पुण्यकर्म की प्रशंसा करने वाला (मनुष्य) विशाल प्रज्ञा को प्राप्त करता है ॥ ५६५ ॥

जानते हुए भी पुण्यकर्मों के प्रति अश्रद्धा रखने वाला सुखार्थी मनुष्य अज्ञान से आवृत इस लोक में अनर्थों को ही साथ कर लेता है ॥ ५६६ ॥

प्रमाद से अभिभूत मनुष्य जो अविज्ञ जनों के द्वारा सेवित है अगर वह पुण्यकर्मों का आदर करने वाला होता है तो वह शास्ता के कृत्यों को करने वाला होता है ॥ ५६७ ॥

जो पुण्यानुमोदन का महत्त्व बतलाया गया है तथा देशना (धर्मोपदेश) के गुणों के बारे कहा गया है उन सबों का यथा योग्य सम्प्रहर्षन के साथ भी जोड़ना चाहिए। अर्थात् सम्प्रहर्षन का अत्यन्त माहात्म्य हैं ॥ ५६८ ॥

१७. सरणानिसंस-गाथा
शरणागमन के सद्गुणों की गाथा

चार मार को जीतनेवाले रणञ्जय तथागत जो करुणा-ब्रह्मविहार की भावना से युक्त होकर करुणानेत्र से जगत् को देखकर दुःख से मुक्त किया है वैसे तथागत की शरण कौन नहीं जायगा। अर्थात् करुणामूर्ति तथागत की शरण में सबों को जाना चाहिए ॥ ५६९ ॥

१७. सरणानिसंस-गाथा

तथागतं वितरणं चतुमाररणञ्जयं ।
सरणं को न गच्छेय्य करुणाभावितासयं ॥ ५६९ ॥

स्वाक्खातं तेन सद्धम्मं संसारभयभञ्जकं ।
करुणागुणजन्तस्स सरणं को न गच्छतिं ॥ ५७० ॥

परिपीतामतरसं सद्धम्मोसधभाजनं ।
सङ्घं पुञ्ञकरं को हि सरणं नागमिस्सति ॥ ५७१ ॥

एकादसग्गिसन्तापरहितं रतनत्तयं ।
करुणागुणयोगेन अनोतत्तातिसीतलं ॥ ५७२ ॥

सरणन्ति गतं दुक्खं न सक्कोति पतापितुं ।
यथा तिणुक्का निम्मुग्गा अनोतत्तमभासरे ॥ ५७३ ॥

भीता हि सरणं यन्ति नदीपब्बतकानने ।
का हि तेसं सरणता मरणं येसु विज्जति ॥ ५७४ ॥

यो च बुद्धञ्च धम्मञ्च सङ्घञ्च सरणं गतो ।
मरणस्सापि नासज्ज करणं तम्हि विज्जति ॥ ५७५ ॥

अहो अञ्ञाणराजस्स आणा बलवती भुसं ।
सदोसे सरणं याति याय अन्धीकतो जनो ॥ ५७६ ॥

(कारुणिक भगवान् बुद्ध जिन्होंने मार पराजय कर सत्त्वों को करुणा वितरित किया हैं वैसे तथागत की शरण कौन नहीं जायगा)

उनका सद्धर्म सु-अख्यात है, संसार भय को नष्ट करने वाला है, तथा करुणा गुणों से युक्त है, भला ऐसे धर्म की शरण कौन नहीं जायगा। अर्थात् सद्धर्म की शरण में जाना ही उत्तम है ॥ ५७० ॥

अमृतरस (निर्वाणरस) को बराबर पीने वाले, सद्धर्मरूप औषध का पात्र, पुण्यकर संघ की शरण में कौन नहीं जायेगा। अर्थात् संघशरण में जाना सर्वोत्तम है ॥ ५७१ ॥

ग्यारह प्रकार के अग्निसन्ताप से रहित रत्नत्रय (बुद्ध, धर्म, संघ) करुणासमन्वित होने से अनवतप्त (हिमालय के झील) और अत्यन्त शीतल है ॥ ५७२ ॥

जो त्रिरत्न की शरण में गया उसको दुःख उसी प्रकार ताप नहीं दे सकता जिस प्रकार तिनकों की मशाल जल में डुबा देने पर न तप्त ही रह सकता है और न प्रकाशित ही रह सकता है ॥ ५७३ ॥

डरा हुआ प्राणी नदी, पर्वत, तथा जगंल में शरण लेते हैं पर उस शरण से क्या लाभ जहाँ मृत्यु विद्यमान है ॥ ५७४ ॥

जो बुद्ध, धर्म तथा संघ की शरण में जाता है, उसे मृत्यु भी नहीं पा सकती क्योंकि त्रिरत्न की शरण रूप साधन उसमें विद्यमान हैं ॥ ५७५ ॥

अज्ञानराज की आज्ञा बलवान् है जिसने मनुष्य को अन्धा बना दिया है जिसके कारण मनुष्य दोषयुक्त अज्ञानी की शरण में ही जाते हैं। यह महान आश्चर्य है ॥ ५७६ ॥

दोष के वश में रहने वाले, करुणा बल से हीन की शरणमें जो मनुष्य जाता है वह करुणा रहित मृत्यु ग्रह से घिरा संसार समुद्र के बीच में भ्रमण करता रहता है। अर्थात् जन्म मरण परम्परा मे पड़ा रहता है ॥ ५७७ ॥

जो अतुल्य हैं, जिनके समान दूसरा नहीं है, प्रकाश स्वरूप, अग्र, काल के बल के सभी प्रकार से मर्दन करने वाले वीर भगवान् बुद्ध की शरण में जाने वाले की लोक में किसी प्रकार के युद्ध में भय नहीं है ॥ ५७८ ॥

दोसवसे करुणाबलहीनो यो सरणं ति नरो उपगच्छे ।
सो करुणम्मरणग्गहकिण्णे संसरतेव भवोदधिमज्झे ॥५७७ ॥

यो अतुलो असमो दीपदग्गो कालबलप्परिमद्दनसूरो ।
तं सरणन्ति गतस्स हि लोके सब्बरणेसु भयन्नहि अत्थि ॥ ५७८ ॥

ते न तथागतपब्बतराजं ये सरणन्ति गता नरदेवा ।
ते मरणादिभयेन विहीनं निस्सरणं विरणं उपयन्ति ॥ ५७९ ॥

१८. अनुस्सरणानिसंस-गाथा

यस्मिं खलु महानाम समये अरियसावको ।
तथागतं नुस्सरति सद्धम्मं सङ्घमेव वा ॥ ५८० ॥

नेवस्स तस्मिं समये रागादिपरियुट्ठितं ।
चित्तं होतीति सुत्तेसु अनुस्सति विसेसिता ॥ ५८१ ॥

यं यं दानादिकुसलं अनुस्सरति भावतो ।
तस्स तस्सानुरूपं हि यसञ्चानुस्सती फलं ॥ ५८२ ॥

बुद्धस्सेकगुणं वापि सतो 'नुस्सरतो हि या ।
पीति सा ति भविस्सरिय लद्धस्सापि न विज्जति ॥ ५८३ ॥

तं अनुस्सरतो रागदोसमोहमहग्गयो ।
खणेन परिनिब्बन्ति महोघेनेव अग्गिनो ॥ ५८४ ॥

जो मनुष्य या देवता भगवान् तथागत जो पर्वतराज के तरह एक रस रहने वाले हैं की शरण गये वे मरण आदि भयों से मुक्त हो विषयों की आसक्ति से रहित, रण रहित (अकुशल धर्मों के प्रभाव से रहित) स्थिति को प्राप्त करते हैं ॥ ५७९ ॥

१८. अनुस्सरणानिसंस-गाथा

अनुस्मरण के सद्गुणों की गाथा

हे महानाम जिस समय आर्य श्रावक तथागत को सद्धर्म को या संघ का ही अनुस्मरण करता है ॥ ५८० ॥

उस समय उसका चित्त रागादि से युक्त नहीं होता ऐसा सुत्तों में अनुस्मरण की महिमा विशेष रूप से वर्णित है ॥ ५८१ ॥

दान, शील, भावना आदि दस कुशल वस्तुओं में से जिस किसी का अनुस्मरण या भावना करता है, उस समय उसके अनुरूप ही पुण्यफल प्राप्त होता है यह अनुस्मृति का माहात्म्य है ॥ ५८२ ॥

बुद्ध के एक गुण का भी यदि जानते हुए अनुस्मरण किया जाय तो उसके फलस्वरूप वैसी प्रीति उत्पन्न होती है जैसी किसी ऐश्वर्य प्राप्त व्यक्ति में भी विद्यमान नहीं रहती ॥ ५८३ ॥

बुद्ध के गुणों का अनुस्मरण करते ही राग, द्वेष और मोहाग्नि क्षण मात्र में वैसे ही परिनिवृत (शान्त) हो जाता है जैसे महान बाढ़ से अग्नि शान्त हो जाता है ॥ ५८४ ॥

दीर्घकाल से दूसरे प्राणियों के हित को जो अविच्छिन्न रूप से अनुस्मरण करते हैं उनकी स्मरण जन्य प्रज्ञा का अनुमान अन्य कौन लगा सकेगा ॥ ५८५ ॥

त्रिरत्न के अनुस्मरण क्षण में मनुष्य अमनुष्य (भूत, प्रेत, देव) से नाग से रोग से और अग्नि से थोड़ा भी भय नहीं होता है ॥ ५८६ ॥

इसलिए संसार से मुक्ति चाहने वाले को अनुस्मरणीय (बराबर स्मरण करने योग्य) बुद्ध, धर्म और संघ का आदर सहित सतत् स्मरण करना चाहिए ॥ ५८७ ॥

सुचिरम्परसत्तत्थे अविच्छिन्ना अनुस्सति ।
यस्स तं सरतो पञ्ञं को हि अञ्ञो मिनिस्सति ॥ ५८५ ॥

न मनुस्सामनुस्सेहि नागरोगानलेहि वा ।
ईसकम्पि भयं होति रतनानुस्सतीक्खणे ॥ ५८६ ॥

तस्मानुस्सरणीयेसु बुद्धादिसु सगारवो ।
अनुस्सरेय्य सततं संसारुपसमत्थिको ॥ ५८७ ॥

१९. अप्पमादानिसंस-गाथा

सब्बं पुञ्ञं समोधाय फलन्तस्स विसेसयं ।
नायको निधिकण्णम्हि विसेसेनाभिवण्णयि ॥ ५८८ ॥

असाधारणमञ्ञेसं अचोराहरणो निधि ।
पच्चेकबोधिजिनभूमिं सब्बमेतेन लब्भति ॥ ५८९ ॥

सब्बञ्ञुञाणसतरंसिपज्जोतेनावभासिता ।
करुणापुण्णचन्देन कतसीतपरिग्गहा ॥ ५९० ॥

दस बुद्धामलबलोदारग्गहविभासिता ।
कुसलोसधिताराहि सङ्किण्णा सब्बतो दिसं ॥ ५९१ ॥

सुद्धासाधारणञाण सुवण्णमणिसानुहि ।
बुद्धधम्मोरुसेलेहि अवरुद्धा समन्ततो ॥ ५९२ ॥

१९. अप्पमादानिसंस-गाथा

अप्रमाद के गुणों की गाथा

सभी पुण्य (कुशल कर्म) का समादान कर उसके विशेष फल को भगवान् बुद्ध ने 'निधिकण्ड' में विशेष रूप से वर्णन किया है ॥ ५८८ ॥

अप्रमाद सभी निधियों में यह असाधारण निधि है, क्योंकि इस (अदृश्य पुण्य) निधि को चोर नहीं चुरा सकते। साथ ही इससे प्रत्येक बोधि, जिनभूमि सभी प्राप्त किया जा सकता है ॥ ५८९ ॥

जिनभूमि सर्वज्ञता ज्ञान की सप्तरश्मियों से प्रकाशित, तथा करुणारूपी पूर्णचन्द्र से शीतल सम्पत्ति से परिपूर्ण है ॥ ५९० ॥

बुद्ध के दस शुद्ध एवं उदार बलरुपी ग्रहों से प्रकाशित है। कुशलोषधिरुपी तारागणों से सभी दिशाएँ परिपूर्ण है ॥ ५९१ ॥

शुद्धसाधारण ज्ञान स्वर्ण-मणियुक्त ऊँची भूमि है तथा बुद्ध-धर्मरुपी चौड़ी एवं प्रमुख शिला से चारो ओर से अवरुद्ध है ॥ ५९२ ॥

वैशारद्य मृगेन्द्र भगवान् बुद्ध का संघ (परिषद्) सुखी एवं विश्वस्त विहारी भिक्षुओं से अत्यन्त सुशोभित है ॥ ५९३ ॥

धृति (धैर्य) रुपी सुमेरू पर श्रेष्ठ ध्वज लोकधर्मरुपी वायु से प्रकम्पित है तथा स्मृत्युपस्थानरुपी समृद्धराष्ट्र चार सम्यक् प्रधानरुपी वायु से अनुव्यञ्जित है ॥ ५९४ ॥

(धृतिमान भिक्षु लोक धर्म से प्रकम्पित नहीं होते। लोक धर्म-आठ हैं, यथा- लाभ, अलाभ, यश, अपयश, प्रशंसा, निन्दा, सुख तथा दुःख । सतिपट्ठान को समृद्धराष्ट्र कहा गया है जो चार सम्यक् प्रधान अर्थात् उत्पन्न अकुशल धर्मों को नहीं उत्पन्न होने देने का प्रयत्न, उत्पन्न अकुशल धर्मों का प्रहाण करने का प्रयत्न, अनुत्पन्न कुशलधर्मों को उत्पन्न करने का प्रयत्न तथा उत्पन्न कुशलधर्मों को बढ़ाने का प्रयत्न। ये चार सम्यक् प्रधान धर्म हैं जो स्मृत्युपस्थान रूप समृद्धराष्ट्र में शीतल हवा करने वाला पंखा है। इस रूपक के द्वारा सतिपट्ठान को समृद्धराष्ट्र तथा सम्यक् प्रधान को उस राष्ट्र को पंखा डुलाने वाला कहा गया है।)

वेसारज्जमिगिन्देहि परिसावनराजिसु ।
सुखविस्सत्थचारीहि अच्चन्तमुपसोभिता ॥ ५९३ ॥

लोकधम्मानिलाकम्पधितिमेरु धजुग्गमा ।
सतिपट्ठानरट्ठड्ढा पधानानिलवीजिता ॥ ५९४ ॥

सद्धम्मदेसनावस्सधाराहि परिसिञ्चिता ।
बोज्झङ्गकुसुमाकिण्णा मग्गञ्जसमहापथा ॥ ५९५ ॥

गुणण्णवपरिक्खित्ता सीलामलतला सुभा ।
बुद्धभूमीहि या लोके लद्धावीरवरेहि सा ॥ ५९६ ॥

विसिट्ठा सब्बभूमीनं यदि पुञ्ञेन लब्भति ।
अलब्भनीयम्पुञ्ञेन लोके अञ्ञं हि किं सिया ॥ ५९७ ॥

सब्बं पुञ्ञं हि निस्सेसं मनुस्सत्ते समिज्झति ।
तं पब्बतनदीविज्जुजलचन्दादिचञ्चलं ॥ ५९८ ॥

तस्मा इमं खणवरं लद्धा सब्बत्थसाधकं ।
आदित्तचेलसीसा' व योगं समनुयुञ्जथ ॥ ५९९ ॥

पमादं दूरतो कत्वा अप्पमादो'व सेवियो ।
कल्याणमित्ते निस्साय भावनीयगुणाकरे ॥ ६०० ॥

पमादो सब्बदोसानं हेतूति परिकित्तितो ।
अप्पमादो तथा सब्बगुणानं हेतु सम्मतो ॥ ६०१ ॥

सद्धर्मदिशनारूपी वर्षा की धारा से परिसिञ्चित है। बोध्यङ्ग[1]रुपी पुष्प सर्वत्र पुष्पित हैं, तथा आर्य-अष्टाङ्गिकमार्ग[2]रुपी प्रशस्त महापथ से सुशोभित है ॥ ५९५ ॥

शीलरुपी अमल तथा शुभ तल वाला गुणरुपी समुद्र से घिर हुआ है जिसे लोक में बुद्ध भूमि कहा जाता हैं, वह भूमि श्रेष्ठ वीर पुरुषों द्वारा प्राप्त किया गया है ॥ ५९६ ॥

सभी भूमियों में विशिष्ट 'बुद्धभूमि' यदि पुण्यकर्मों के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है, तो लोक में ऐसी कौन सी वस्तु है जो पुण्यकर्मों के द्वारा प्राप्त नहीं की जा सकती, अपितु पुण्यकर्मों के द्वारा सभी वस्तुएँ प्राप्त की जा सकती है॥ ५९७॥

सभी पुण्यकर्म अशेषरूप से मनुष्य करने में सफल होता है पर वह भी पर्वत से निकली नदी की तरह, बिजली की तरह तथा जल में चन्द्रबिम्ब की तरह चञ्चल है ॥ ५९८ ॥

इसलिए सभी अर्थों के साधक श्रेष्ठ क्षण को प्राप्त कर भावना में लग जाँय, क्योंकि सिर पर वस्त्र प्रदीप्त है। अर्थात् शीष पर अग्नि प्रज्वलित है ऐसा समझकर योग में अपने को लगा दें जिससे श्रेष्ठ क्षण व्यर्थ न बीत जाय ॥ ५९९ ॥

(जिस तरह सिर पर रखे वस्त्र में आग लग जाने से शीघ्र ही उसको समाप्त करने का यत्न किया जाता है, उसी प्रकार श्रेष्ठक्षण को प्राप्त कर शीघ्र योग में लग जाना चाहिए।)

प्रमाद को दूर कर अप्रमाद का सेवन करना चाहिए। कल्याणमित्र का आश्रय लेकर गुणों के समूह की भावना करनी चाहिए ॥ ६०० ॥

जिस प्रकार प्रमाद को सभी दोषों का मूल बतलाया गया है उसी प्रकार अप्रमाद सभी गुणों का मूल है ऐसा सभी लोग मानते हैं ॥ ६०१ ॥

प्रमाद के कारण सभी अनर्थों में पड़ जाता है, जिससे संसार को शुभ, सुख, नित्य तथा आत्मावान् समझता है और इस प्रकार विपरीतदृष्टि से ग्रस्त हो जाता है ॥ ६०२ ॥

---

1. बोध्यङ्ग सात हैं-स्मृतिसम्बोध्यङ्ग, धर्मविचयसम्बोध्यङ्ग, वीर्यसम्बोध्यङ्ग, प्रीतिसम्बोध्यङ्ग, प्रश्नब्धिसम्बोध्यङ्ग, समाधिसम्बोध्यङ्ग तथा उपेक्षा-सम्बोध्यङ्ग ।
2. आर्य अष्टांगिक मार्ग आठ हैं-सम्यक्दृष्टि, सम्यक्संकल्प, सम्यक्वचन, सम्यक्कर्म, सम्यक्आजीविका, सम्यक्व्यायाम (प्रयत्न) सम्यक्स्मृति, तथा सम्यक्समाधि ।

पक्खन्दति अनत्थेसु पमादो परिकप्पितो ।
सुभं सुखञ्च निच्चञ्च अत्ताति विपरियेसतो ॥ ६०२ ॥

ततो असुचि बीभच्छं दुग्गन्धं किमिसङ्कुलं ।
देहं परमजेगुच्छं भजनीयन्ति पस्सति ॥ ६०३ ॥

हत्थाहारिक-अग्गीव हत्थसम्परिवत्ततो ।
इरियापथचक्केन भरणीयं सुदुक्खतो ॥ ६०४ ॥

पभङ्गुरं परायत्तं पच्चयायत्तमप्पकं ।
पतिकारन्तरन्दिस्वा मुय्हते सुखसञ्ञया ॥ ६०५ ॥

चित्तस्सानन्तरं चित्तं पवत्तन्तं निरन्तरं ।
उप्पज्जित्वा निरुज्झन्तमपि दीपसिखा विय ॥ ६०६ ॥

लहुप्पवत्तितो तत्थ अदिस्वान अनिच्चतं ।
निच्चन्ति पटिगण्हाति पमत्तो चित्तसन्ततिं ॥ ६०७ ॥

दुब्बले पच्चयायत्ते निस्सारे खन्धपञ्चके ।
सरीरिन्द्रियविञ्ञाणसमवायेन साधितं ।
सुरियकन्तिन्धनादिच्च सम्भूतमिव पावकं ॥ ६०८ ॥

किरियं अविजानन्तो अत्ता अत्थीति मञ्ञति ।
मञ्ञन्तो मारपासेन आसासञ्ञेन बज्झति ॥ ६०९ ॥

बद्धो तेन यथाकाम करणीयो व होति सो ।
अज्झोहटो व बलिसं मच्छो आमिसतण्हया ॥ ६१० ॥

तदनन्तर अत्यन्त अशुद्ध, वीभत्स, दुर्गन्धयुक्त कृमिसंकुल (कीड़ों से भरा) अत्यन्त घृणा करने योग्य शरीर को सेवनीय मानता है, तथा उसमें आसक्त हो जाता है ॥ ६०३ ॥

हाथ में आहरित अग्नि जिस तरह हाथ को जलाता है, उसी प्रकार अपनी शारीरिक चर्यायों पर जागरूकता तथा सावधानी के अभाव में दुःख का ही आह्वान करता है ॥ ६०४ ॥

क्षणभङ्गुर, दूसरों पर आधारित, प्रत्ययों (भोजन, वस्त्रादि) से परिचालित इस शरीर को नित्य, स्वतंत्र तथा शुभ रूप में देखकर इससे मोह करता हुआ आसक्त रहता है ॥ ६०५ ॥

एक चित्त के अनन्तर दूसरा चित्त निरन्तर प्रवर्तित होता रहता है। दीपशिखा की भाँति चित्त उत्पन्न एवं निरुद्ध होता रहता है ॥ ६०६ ॥

अत्यन्त शीघ्रता से प्रवर्तित होते रहने वाले चित्त की अनित्यता को न देखकर प्रमादी मनुष्य चित्त सन्तति को नित्य के रूप में ग्रहण करता है ॥ ६०७ ॥

दुर्बल, प्रत्ययों (भोजनादि) पर आधारित साररहित पञ्चस्कन्धों से युक्त शरीर, इन्द्रिय, विज्ञान के समायोग से साधित है जिस तरह सूर्य की कान्ति, इन्धन तथा सूर्य से अग्नि होने की कल्पना की जाती है ॥ ६०८ ॥

क्रिया को नहीं जानते हुए, 'आत्मा है' ऐसा मानता है, ऐसी आत्मदृष्टि में पड़ जाने के कारण मार के बन्धन में पड़ जाता है तथा आश-पाश में बद्ध हो जाता है अर्थात् तृष्णा के फन्दे में पड़ जाता है ॥ ६०९ ॥

अपनी इच्छा की पूर्ति के लिए इच्छानुकूल व्यापार से उसी प्रकार बद्ध हो जाता है, जिस तरह मछलियाँ अपनी खाने की वस्तुओं की तृष्णा में पड़कर कँटियां में फंस जाती है ॥ ६१० ॥

अप्रमादी मनुष्य धर्मों के स्वभाव का अवगाहन करता है। तथा धर्मस्वभाव का अवगाहन करते हुए (अनित्य, अनात्म, दुःख) स्वभाव को जानकर उसे नित्य, शुभ, सुख तथा आत्मावान् नहीं देखता है ॥ ६११ ॥

तदनन्तर वह 'त्रिभव' (कामभव, रूपभव और अरूपभव) को निःसार, क्षणभङ्गुर और दुःख समझकर उससे उसी प्रकार शीघ्र निर्वेद (विरक्ति) को प्राप्त

अप्पमत्तो तु धम्मानं सभावमनुगाहति ।
सभावमनुगाहन्तो मञ्जणीयं न पस्सति ॥ ६११ ॥

ततो सो तिभवं दिस्वा निस्सारं भङ्गुरं दुखं ।
नरके चिरवत्थो व ततो निब्बन्दते भुसं ॥ ६१२ ॥

ततो सो सत्तसङ्खारे विरज्जति न रज्जति ।
विरत्तो न चिरस्सेव विमुच्चति समाहितो ॥ ६१३ ॥

विमुत्तिसारं नाथस्स सासनं सारदस्सिनो ।
अप्पमत्तस्स वसतो सा विमुत्तो न दुल्लभा ॥ ६१४ ॥

तस्मा हि अप्पमादेन विहरेय्य सगारवो ।
पत्तं परमवीरेहि पत्थेन्तो परमं पदं ॥ ६१५ ॥

इति सधम्मोपायनमिदं अतिगम्भीरममलविपुलत्थं ।
उद्दिस्स बुद्धसोमं उपरचितं गन्थभीरूनं ॥ ६१६ ॥

मन्दानं धम्मकथान यानभिञ्ञानमपि च सुगमतरं ।
भवतूति सुत्तियुत्तिमवोक्कमित्वा अवित्थिण्णं ॥ ६१७ ॥

ठातु चिरं सधम्मो धम्मधरा च इध तिट्ठन्तु ।
सङ्घो भवतु समग्गो सब्बो लोको सुखीभवतु ॥ ६१८ ॥

मम सद्धमोपायनरचनुस्साहेन जनितपुञ्ञेन ।
भवतु सकलो पि लोको तिलोकनिट्ठरणसमत्थियो ॥ ६१९ ॥

करता है जैसे बहुत दिनों से नरक में पड़ा व्यक्ति नरक से शीघ्र निकलना चाहता है ॥ ६१२ ॥

इसके बाद वह सत्त्वसंस्कार के प्रति विरक्त होता है, अनुरक्त नहीं होता। समाहित पुरुष विरक्त होकर शीघ्र ही मुक्त हो जाता है ॥ ६१३ ॥

सारदर्शी भगवान् बुद्ध के शासन का सार विमुक्ति (निर्वाण) है। अप्रमाद के साथ रहने वाले के लिए वह विमुक्ति भी दुर्लभ नहीं है ॥ ६१४ ॥

इसलिए गौरववान् मनुष्य अप्रमाद के साथ विहार करे। क्योंकि भगवान् बुद्ध परम पद (निर्वाण) को प्राप्त किया है। तथा परम पद निर्वाण को बताया है। (अप्रमाद के द्वारा परमपद को प्राप्त किया जा सकता है, ऐसा भगवान् बुद्ध ने बताया है।) ॥ ६१५ ॥

ग्रन्थभीरुओं के लिए तथा 'बुद्धसोम' को भेंट करने के लिए अतिगम्भीर, शुद्ध, विपुल अर्थ को देने वाला इस 'सद्धम्मोपायनं' ग्रन्थ की रचना की है ॥ ६१६ ॥

श्रुति एवं युक्ति के अनुसार विस्तीर्ण यह 'सद्धम्मोपायनं' मन्दों के लिए, धम्मकथिकों के लिए, मार्ग एवं अभिज्ञा प्राप्त ज्ञानियों के लिए भी सुगमतर हो, सरल हो ॥ ६१७ ॥

सद्धर्म चिरकाल तक ठहरे, धर्मधर भी इस संसार में चिरकाल तक ठहरें, संघ की एकता मजबूत हो संघ समग्र हो और सभी लोक सुखी हों ॥ ६१८ ॥

मेरे द्वारा विरचित इस 'सद्धम्मोपायनं' की रचना के उत्साहजनित पुण्य से सम्पूर्ण लोक त्रिभव (काम, रूप, अल्पभव) से निकलने में समर्थ हों ॥ ६१९ ॥

भगवान् बुद्ध के उत्पाद के समय मनुष्य जीवन प्राप्त कर, बुद्धशासन में प्रव्रर्जित होकर भिक्षु प्रमाद न करें, आलस्य को छोड़ दें ॥ ६२० ॥

जिस प्रकार चींटी अपने अण्डे की, चमरी अपनी बाल की, माता अपने एकलौते प्रिय पुत्र की, एक आँखवाला अपनी एक आँख की रक्षा करता है, उसी प्रकार शील की भली-भाँति रक्षा करते हुए कुशल-पुरुष-गौरव को प्राप्त करें ॥ ६२१ ॥

बुद्धपादेन सहितं लद्धा मानुससम्भवं ।
सासने पब्बजित्वान नालं भिक्खु पमज्जितुं ॥ ६२० ॥

किकीव अण्डं चमरीव बालधिं, पियं व पुत्तं नयनं व एककं ।
तथेव सीलं अनुरक्खमानका, सुपेसला होथ सदा सगारवा ॥६२१॥

●

दिट्ठमित्तादिट्ठमित्ता सब्बे सप्पुरिसादयो ।
अनुमोदित्वामिमं पुञ्ञं पापुनन्तु सिवं पदं ॥ १ ॥

राजाराजाधिराजानो मच्चामच्चादिसाधवो ।
अनुमोदित्वामिमं पुञ्ञं साधयन्तु सिवं पदं ॥ २ ॥

सब्बे सत्ता च भूता च हिता च अहिता च मे ।
अनुमोदित्वामिमं पुञ्ञं बोधयन्तु सिवं पदं ति ॥ ३ ॥

भवाभवे संसरन्तो याव निब्बानपत्तिया ।
जातिस्सरेन ञाणेन तिहेतुपटिसन्धिको ॥ ४ ॥

उप्पन्नुप्पन्नबुद्धेसु पूरेत्वा सब्बपारमी ।
मङ्गलो विय सम्बुद्धो हुत्वा लोके अनुत्तरो ॥ ५ ॥

संसारे संसरन्तानं सत्तानं हितमावहं ।
धम्मनावाय ते नेत्वा तारयिस्सं भवण्णवा ति ॥ ६ ॥

दृष्ट मित्र तथा अदृष्ट मित्र तथा सभी सत्पुरुष इस पुण्य का अनुमोदन कर शिवपद (निर्वाण) को प्राप्त करें ॥ १ ॥

राजा, राजाधिराज, महाराज, मित्र, अमित्र तथा सज्जनजन इस पुण्य का अनुमोदन कर शिवपद निर्वाण को प्राप्त करें ॥ २ ॥

सभी भूत एवं प्राणी चाहे हित हो या अहित हो (मित्र हों या अमित्र हों) इस पुण्य का अनुमोदन कर कल्याणप्रद निर्वाण को प्राप्त करें ॥ ३ ॥

संसार में संसरण करता हुआ निर्वाण प्राप्ति तक तिहेतुक प्रतिसन्धि लेकर ऐश्वर्ययुक्त ज्ञान से समन्वित होकर ॥ ४ ॥

उत्पन्न एवं अनुत्पन्न बुद्धों में सभी पारमिताओं को पूरा कर भगवान् मङ्गल की तरह लोक में श्रेष्ठ सम्बुद्ध होकर ॥ ५ ॥

संसार में संसरण करने वाले प्राणियों के हित सुख के लिए, धर्मरूपी नाव से उन सबको संसार रुपी सागर से पार करूँ ॥ ६ ॥

इस तरह अनेक नामों के द्वारा कीर्तित उस महर्षि बुद्ध के वचनों का अनुस्मरण कर आध्यात्मिक उत्थान में प्रवृत्त मनुष्य विपश्यना का अभ्यास करते हुए परिशुद्ध हों ॥ ७ ॥

पूर्वयोग, पूर्वजन्म के पुण्य कर्म विशिष्ट ज्ञान से युक्त विद्वान्, देशभाषा तथा आगम, परिपृच्छा, ज्ञान का अधिगम, गुरू के सान्निध्य, तथा सन्मित्र सम्पत्ति को प्राप्त कर प्रतिसम्भिद ज्ञान को प्राप्त करें ॥ ८ ॥

'सद्धम्मोपायनं' नामक ग्रन्थ सम्पूर्ण।

भवतु सब्बमङ्गलं।

●

इति'नेकेहि नामेहि कित्तिया च महेसिना ।
वुट्ठानगामिनीसत्ता परिसुद्धा विपस्सना ॥ ७ ॥

पुब्बयोगो बाहुसच्चं देसभासा च आगमो ।
परिपुच्छा अधिगमो गरुसन्निस्सयो तथा ।
मित्तसम्पत्ति चेवापि पटिसम्भिदपच्चया ति ॥ ८ ॥

संवण्णितपदानं अनुक्कमणिका

पदानुक्रम	गा. सं.	पदानुक्रम	गा. सं.
(अ)		अज्झायस	२१९, ५१८
अंस	१५४	अज्झोलम्बति	२८४, २९६
अकतञ्ञू	३१	अज्झोहट	६१०
अकम्प	५९४	अञ्जन	२८६
अक्खण	४, ६, १५, १६	अञ्जस	३२८, ५९५
अक्खमो	९५	अञ्ञदत्तिक	३९४
अक्खान	२३७	अञ्ञू	२५२
अक्खि	३८०	अट्टिक	२०५
अक्खिगण्डक	१०३	अत्थान	५०५
अक्खिक	२८६	अत्थि	४६, १०३
अखिल	४९४	अत्थि-करोति	२२०
अङ्कुर	२७३	अद्धा	२७०, ३१२, ५४८
अङ्कुस	१४७	अद्धता	३१६
अग्ग	२४३, ३२८, ३४९, ३५२	अण्डा	६२१
अग्गपुग्गल	९२, ५५८	अण्डज	२७५
अग्गि	३३, १९९, ३५२, ३७०,	अण्णव	३२, ४३३, ५०८
	४०४, ५८४	अतन्दित	४६, १००, ३३६, ४५०
अघ	५१	अतिक्कम	६४
अङ्ग	८३, १५९, ३६१, ४५५-६	अतिक्कमति	३४१, ३४६, ३४८, ३४९,
अङ्गपच्चङ्ग	१८८, ५४३,		३५३, ३७३
एककङ्ग, चतुरङ्ग, तिवङ्ग,	४६२	अति घोर	२८५
अनङ्ग,	३६१		
अङ्गार	३२, १९५, २०८	अति तुच्छ	४३०
अच्चन्त	११, २८, २९, ८५, २८८	अति दुक्ख	९५
अच्चि	२५०	अति मन्द	२०४, ४८८
अच्चुत	४७	अति मन्दक	२७३
अच्छरा	२४४, २९८, ४९०	अति लूख	४०९
अच्छिन्दति	१२२	अति विस्सुत	४७३
अच्छेर	२९८, २४४	अति सन्त	४९६
अज्जन	९८	अतिहट्ठ	३२३

पदानुक्रम	गा. सं.	पदानुक्रम	गा. सं.
अतिपातक	४९	अनुगामिक	४४३
अतिपाति	५०	अनुगामिय	३११
अतिमञ्ञति	६०९	अनुगाहति	६११
अतिरिच्चति	२३, १२६	अनुपस्सी	४११
अतुल	३४५, ४९६, ५७८	अनुपाय	४०५
अत्तत्थ	२८, ७०	अनुपालक	४७४
अत्त-सुख	३०	अनुपोसिय	३१८
अन-अत्त	४५	अनुभवति	२९०
अत्थ	२८, २९, ३०, ३७, ६५, ९९	अनुभाविय	३४, २९३
अनत्थ	८७	अनुमत्त	३४७
अत्थिक	३०, २०६, ३२२, ३३४	अनुमान	७४
अत्थी	३३२, ३३४, ३७४, ४०३	अनुमोदक	५१२
अदिन्नदायी	७८	अनुमोदति	५०१, ५१०, ५१४
अद्दित	३७, २८१	अनुमोदन	२१३, २१८, ५१६, ५६८
अधंसिय	३०८	अनुम्मत्त	२०५
अधम	३८७	अनुलोमिका	६५, ६६
अधिक	१९, ३३७, ४४७, ५१४	अनुरक्खति	३२
अधिग्गहीत	९८	अनुरक्खण	४४९
अधिप्पाय	६२	अनुरक्खमानक	६२१
अधिप्पायक	६६	अनुवात	४२५
अधिमुत्ति	३७८	अनुसार	९१
अनमतग्ग	५०५	अनुसारि	५२८
अनय	३६२	अनुस्सति	२२५, २३१, ४८२, ५८१-२
अनल	५८६	अनुस्सरति	५८०-२, ५८३, ५८७
अनवज्ज	४३६	अनेसन	३९२, ४२७
अनामिस	५२१	अनोदक	४४३
अनाविल	४७९	अनोपम	२३७
अनिच्च	३६५, ४६६, ४९७, ४९२	अन्तिम	२७८
अनिल	५९४	अन्धकार	१४, २८०
अनिवत्तिय	१३	अन्धीकत	५७६
अनु	२७१, ३४६	अन्न	१०६, २१४
अनुकुल	२९७, ३१२	अनाप (अन्ना + आपो)	१००
अनुकुलक	२४२	अन्व-अवेक्खनँ	४४९

पदानुक्रम	गा. सं.	पदानुक्रम	गा. सं.
अपक्क	१०२	अभिवड्ढनी	६८
अपक्कमति	२९४	अभिवण्णेति	५८८
अपकार	२८३	अभिसङ्खारिक	३०९
अपगम	५०८	अभिसङ्गी	५६६
अपचायी	५४९	अभिसमय	१५, ४६७, ५२५
अपत्थित	७९	अभिसम्भूत	५५६
अपनेति	६३	अभिसेवन	२१०
अपविद्ध	३६६	अभेज्जा	३१२
अपाय	५, ४३, ७५	अमत	१, २०९, ५३०, ५७१
अपुब्ब	५४, ७५	अमतदायी	६
अप्पमेय्य	३३८	अमेज्झा	३१२, ३६३
अप्पदूसिय	३१२	अमल	२४६, ५९१, ५९६
अप्परजक्खक	५१९	अमिताभ	२५५
अप्पेसक्ख	८९	अम्बुज	३६०
अप्पित	२३३	अम्बुद	२७०, २७५
अब्भनुमोदना	२१८	अम्भोद	४३०
अब्भुदीरेति	५१४	अयो	५२९
अब्भुत	३४५, ४९६	अरती	४७६
अब्यापज्झ	३९७	अरिट्ठ	२७९
अभिजप्पति	९९	अरिन्दम	२७६
अभिजानाति	५५०	अरिभूत	४९३
अभिज्झा	५६, ६९	अरिय	२५४, ४४४
अभिञ्ञा	२२८, ४७०, ४८२	अरूप	२२८, ४६३, ४८०
अभितुन्न	२८१	अरूपलोक	४९४
अभिनिब्बाति	४५०	अलंकार	२४९
अभिनिब्बुत	३५	अल्लीयति	१०२, ५२९
अभिनिवेस	७१	अवज्झ	३४५
अभिपीळित	२७८, २७९	अवगाहति	३७, ३२७, ३७०, ३८३
अभिमण्डित	१७	अवगुण्ठन	३१४
अभिमद्दति	२८८	अवचरिक	२५४
अभिरत	८२, ५६३	अवञ्ञात	८८, ९०
अभिवड्ढति	२८८, ५२३	अवत्थन्तर	४५७
अभिवादन	५४९	अवभासक	१४

पदानुक्रम	गा. सं.	पदानुक्रम	गा. सं.
अवभासित	५९०	आकिण्ण	५९५
अवमञ्ञति	२७१	आकोटेति	१५९
अवरूद्ध	५९२	आगम	२२७, २४९
अवस	२९०	आगमन	२२४, ३५६
अवस्सं	२९३	आगसा	२९४
अवस्सुसति	४६	आचार	४४१
अवीचि	३७, १९४	आचिण्ण	९०
अवितथ	५३०	आजीव	३४२, ३७५, ३९२
अविलोपिय	३११	आणा	३४७, ५७६
अवेर	३३८-९	आणत्ति	५९, ६०, ३५४
असंकित	४३५, ५४१	आतपति	१२३
असग्गुण	३८२	आताप	३९६
असन्नत	४१७	आतुर	५०७
असम	५७८	आदार	२, २१, ३९, ४८, २०७,
असाधारण	५८९, ५९२		५६०, ५६४
असाहिय	९४	आदिच्च	१४, १७, ४०
असिपत्तवन	१९४	आदिच्चबन्धु	७४
असिलिट्ठ	४८९	आदित्त	५९९
असुचि	३७८, ६०३	आदेय्य	८३
असुभ	३६८	आनन	१०३
असुर	३६६, ४३६	आनिसंस	२६३
अस्स	३६७	आपदा	३१२, ५५५
असद्धिय	८०	आपाथ	३५६
अस्सम	२७७	आपो	१००
अस्सवणीय	८२	आबद्ध	३७२
अस्साद	३७, ५१	आबाध	८५
अस्सास	२९९, ३१३	आभा	२८६
अस्सित	४०१	आमट्ठ	३३३
अस्सुत	३७७	आमय	३९७
(आ)		आमिस	३७४, ३८८, ६१०
आकर	१, ३६, ३४५	आयतो	२५७
आकार	३६३	आयत्त	४७७, ६०५
आकास	४२, ४६४	आयात	४०७

पदानुक्रम	गा. सं.	पदानुक्रम	गा. सं.
आयु	२३४, २३९, २४०, २५८	इट्ठा	६७
आरक्ख	३५७, ३६५	इत्थी	६४, ७९
आरम्मण	२५१	इत्थिक	७९
आराधित	५१०	इद्धि	४४९
आरुप्पसञ्ञा	५, १०	इद्धिमा	३२, ४७२
आरुहति	१८८	इन्द	२७६, ४२१
आरोग्य	२३४	इन्दत्तन	२३४
आरोह	३१७	इन्द्रिय	२८०, ३४२, ३६४, ३६५, ३७१, ४४९, ४७३
आरोहन	२९९		
आलम्ब	२४५, ४६३	इरियापथ	६०४
आलम्बन	३६९, ३८७, ४५८, ४६०	इसि	२००, ३८४
आलय	२००	इस्सत्थ	३९०
आलीयन	१९०	इस्समानक	८९
आलस्स	५६७	इस्सर	३४८, ४३१
आवज्जित	४३३	इस्सरिय	४१८, ५८३
आवट	३३	इस्सरियता	४२२
आवुत	३९१	इस्सा	३१३, ५१०
आवरण	१२	इस्सालुक	९७
आवह	१५, २६, ९८, २०६, २२८	इसक	५८६
आवास	२४७	(उ)	
आसंग	३६१	उक्क	५७३
आसज्ज	३२५, ५७५	उक्कट्ठ	५०६
आसन	२२२, ३९३	उग्ग	२८६
आसय	२४६, ३५७, ४८८, ५६९	उग्गदण्ड	३०४
आसव	१	उग्गहेति	५२०
आसा	७८, १११, ४९८, ६०९	उग्गम	५९४
आसेवित	९३, २३७	उजुक	३२१
आहत	१८७, ४०१	उज्झिय	४९४
आहरण	५८९	उळार	२६, २६०, ४१६
आहार	१००, ३९५, ४०६	उळारता	२५४
आहारिक	६०४	उतुक	२४८
(इ)		उदग्ग	३२३
इच्छा	२४२, ३२०	उदर	१०२

पदानुक्रम	गा. सं.
उदग्गता	२९८
उदधि	३२२, ५७७
उदान	५१४
उदार	४२९, ५९१
उदय	४०, २३०, २५८, २६१
उदिक्खति	३०८
उदेति	१४, ४१, ४४२, ४८८
उद्दिसति	५०२
उद्धच्च	४५९
उपकत्ता	४९९
उपकप्पति	५०१, ५०४
उपकरण	६९
उपकार	२८३, ४४७, ४९८, ५३९, ५४६
उपकारी	५४०, ५४६, ५५९
उपक्कम	५८
उपक्किलेस	२१६
उपक्लेस	२२५
उपगम	४०६
उपजायति	९७, २३७, ५३२
उपजीवक	५०१
उपट्ठान	५६०
उपट्ठापेति	३५६
उपत्थम्भ	५६५
उपदायक	३१९
उपदेस	२२७
उपद्दव	२६७, ३९८
उपनिस्सय	२६५, ३२०
उपभोग	२६८, ३४१, ५४७
उपभोजिय	४११
उपपरिक्खति	५३९
उपमा	२९, ४४, २५९
उपयाति	५७९
उपलद्ध	४, ३८६
उपरचित	६१६
उपरुज्झति	२८०
उपवण्णेति	४८७
उपलालिया	३७५
उपलालित	३०१
उपसम	५८७
उपसमन	३३५
उपसाधिय	३२०
उपसोभित	५९३
उपाय	१०, १२, ३५०, ३८५
उपायन	६१६, ६१९
उपागत	२८०
उपेक्खा	४६१
उपोसथ	४३९
उप्पाटन	१४०
उप्पादेति	५३९
उब्बिग्ग	८, ७७, २९१
उम्मत्त	८८
उम्मूला	४५२
उय्यान	२४८
उरु	३४५, ५९२
उल्लिक्खति	४२८
उस्साह	४९, २२३. ३८४, ५३५, ५३६, ६१९
उस्सिङ्घति	१६६
(ए)	
एकग्ग	४५८
एकग्गता	४६०
एकजालीकता	२०२
एकपुग्गलसुत्त	४४
एकन्त	१९१
एरपत्त	३४७

पदानुक्रम	गा. सं.
(ओ)	
ओकास	१५
ओघ	४३३, ५८४
ओचित	३८७
ओचितता	३५, ३८७
ओजोहर	३१३
ओतत्त	५७३
ओत्थट	२४६
ओदन	११३
ओनद्धा	१८२
ओपम	९३
ओभास	३२५
ओलोकन	४७९
ओसध	५७१
(क)	
कच्छ	१०४
कण्टक	१०२, २०१
कतञ्ञू	५०९, ५४०, ५४४
कतञ्ञुता	४९७, ५४४
कतवेदी	५०९
कन्त	६०८
कपणता	३१५
कप्प	२५६, २५७
कप्पित	२४७
कम्प	४०१
कम	४२५
कमल	३२५
कम्मकरणा	७
कम्मट्ठान	४९३
कम्मपथ	५६, ५७
कम्मी	१९६, २९२
करण	५९
करुणा	३३, २८७
कलह	१३५
कसा	१४७
कसि	३९०
कस्सप	३९२, ४७२
काकण	५१४
काणकच्छ	४४
कानन	५७४
कामगुण	२६१
कामच्छन्द	४५९
कामलोक	२३३, २६१
कामावचरिक	२५४
कारुञ्ञ	५०९
कालदण्ड	२८७
कायिक	५५
कारुणिक	३३०, ५५७
कालहत्थी	१९५
कासु	२०८
किकी	६२१
कित्ति	२३४
कित्ति सद्द	२७६
किब्बिस	२०४
किब्बिसक	२९०
किमि	६०३
किमु	१३७
किलेस	४५५, ६
किलेसेति	३६४
किस	१०१
कुकुच्च	४५९
कुक्कुर	९०
कुक्कुळ	१९४
कुच्छि	३७३, ३८१
कुजति	१६६
कुञ्चित	१०२
कुठित	१३२

पदानुक्रम	गा. सं.	पदानुक्रम	गा. सं.
कुदिट्ठि	८६	गति	३२०
कुम्भ	१९५	गथित	३९४, ४०७-८
कुल	२३४	गन्ध	२४३, २४६, ४२५
कुस	३४९	गन्थ	६१६
कुसीत	३९१	गमन	५५
कुसुम	२४६, ५९५	गम्भीर	५३०
कुहन	३७५	गम्म	२५४
केस	१०३	गरहति	३८२
कोट्ठ	२५७	गुरु	१, ७४
कोटिसिम्बली	१९४	गरु	४९४
कोपीन	१०६	गरुभाव	४२
कोमारभच्च	३५१	गरुक	५२०
कोविद	३५०	गल	३७९
कोस	५४२	गहट्ठ	३७५
(ख)		गहण	१२, ५३२
खण	४, १६, १७, ४५, ४६, ५८४	गामी	२८५, २९७
खत	२८१	गाध	३९४
खत्तिय	४२०	गिलान	२२२, ५५६-७, ५६०
खणति	३९४	गिम्ह	२७५
खन्ति	४७३	गिहि	३७६, ४२६
खमन	२०२	गुणड्ढ	३१२, ५६१
खानु	१३	गुत्ति	३४१
खार	१९४, २८१	गुरु	२२७, ४१७
खित्तचित्त	८८	गूथ	१९४
खिन्न	८०	गूहन	६५
खुज्ज	४५३	गूहयति	१८९
खुद्ददेस	३४८	गोचर	३६५, ३६७, ४६७
खुप्पिपासा	९, १०१, ५०७	गोपित	३९८
खेप	४२	गोविकत्त	३८१
(ग)		घट	३१९, ३२९
गगण	४२८	घटति	४२६, ४५०
गणीयति	४३४	घटबिन्दु,	२०१
गण्डक	१०३	घर	२०

पदानुक्रम	गा. सं.	पदानुक्रम	गा. सं.
(च)		छादन	३९६
चक्क	६०४	छाया	१२३, ४४३
चक्कवत्ति	२३८, ४५३	छेद	३४९
चञ्वल	३१७, ५७८	**(ज)**	
चतुग्गुण	२४०	जच्च	४१६
चतुरङ्ग	६४	जळ	१२, ८६, ९०
चतुरङ्गिक	५८	जन्तु	६७, २८५, २९७
चन्द	४१, ५९०, ५९८	जम्बुदीप	३९१
चन्दक	९२	जम्बुदीपक	२३
चन्दनिका	१३२	जरा	२७८
चमरी	६२१	जर	२८८
चम्म	१४०	जल	२४६, ४०१
चरति	२४१	जव	२७८
चल	४३०, ४९४	जाल	५०, ३१४
चाग	२१४, ३२३	जाला	५०
चारी	२४१, ५९९	जिघच्छा	११८, ३८८
चारु	४२८, ५१२	जिगुच्छिय	३३२. ४०८
चावन	६१	जिण्ण	५६५
चित्त	५८, ६४	जिण्णक	२९९
	२४१, २६४	जिन	३७२
चिन्ता	१६५, २१६	जेगुच्छ	६०३
चिन्तेति	२८९	जेतवन	५१२
चीवर	३९३, ३९६	झान	२३५, ४२२, ४५७, ४६२-३
चेतना	५३, ५७, ७२, २११, २२६	झायी	२५५
चेतिय	४२८, ४३०	**(ड, ठ)**	
चेल	५९९	डहति	४८८
चोदित	५०९	ठिति	५३७
चोर	३१३, ३५७, ३८२	**(त)**	
चोल	३९६	तग्गत=तदगत	४६४
(छ)		तच	४६, १०२, १०३
छड्डेति	२५७	तण्हा	३९५, ४०९
छत्त	४४३	तनु	३६३
छवि	३६३	तम्ब	२८६

पदानुक्रम	गा. सं.
ताळित	८०
ताळेति	१५१
तरुण	१६९
ताण	२२४, २८९
तिण	५७३
तिदस	४११, ४२०, ४७८
तिण्ह	३८१
तिरच्छान	८
तिरिय	९६
तिलोक	२९, २७६, ४९१
तुज्जति	२७९
तुच्छ	४३१
तेविज्ज	४२०
तोसेति	३०४
(थ)	
थद्ध	९०
थन	३६०
थिर	३२१
थीन	४५९
थूल	१०१, ३४६
थेय्य	५५, ६१
(द)	
द	१, २६, ७२
दळिद्द	८९, ५२८
दळिद्दिय	७८
दण्ड	२८६, ३९९
दन्त	३६०
दस्सन	४०२, ४२८, ४६६, ५१२
दस्सनीयतर	३२५
दस्सावी	५५८
दस्सी	४०९, ५३६, ६१४
दहन	२०
दाठा	२८६

पदानुक्रम	गा. सं.
दाठी	२८६
दान	२०, ३५, २११-३, २२८, २६४
दान पति	२७५, ३०३
दायक	२७६
दायी	२१४
दायिक	२११, २२९
दार	५५, ६४, ७९, ५१७
दारक	५१७
दारुण	५, ७, ७८, २८६
दासब्यता	४९८
दाह	२०१
दिट्ठधम्म	२७२, ४७०-१
दिट्ठि	१३, ३३३
दिन	२३९
दिब्ब	२३९
दिब्ब चक्खु	४८२
दिसंगम	४४३
दीघायुक	५११
दीन	१८८, ३२४-५
दीनत्त	७८
दीप	३१५, ६०६
दीपेति	४९, ३४९
दुक्कर	१८
दुक्करत्त	२०, २४, २९, ३६
दुक्ख	३०, ३४
दुक्खम	२०१
दुग्गति	२०८, ३२१
दुग्गन्ध	८०, ६०३
दुट्ठ	८६, ४३४
दुद्दम	३६७
दुन्नीत	३६६
दुप्पेय्य	१५८
दुब्बच्च	९५., १९७

पदानुक्रम	गा. सं.
दुमिन्द	४३२
दुरक्ख	३९८
दुरतिक्कम	९५
दुरतिक्कमन	२९३
दुब्बल	२६२
दुम्मति	२९२
दुरन्त	९५, २९३
दुरासद	३८४
दुरुक्खेप	३४७
दुल्लभ	१७, २७
दुल्लभत्त	४०, ४६
दुस्सह	९५, ११८, १९६
दुस्सील	३३८
दूत	२८७
दूसन	४५३
दूसेति	३६१, ३७९, ३८४
देड्डुभ	२९२
देय्यधम्म	३३१
देव लोक	२४०, २५२
देसक	२१७, २१९, ५१९, ५२२, ५२६
देसना	२१३, २१९, ५२४, ५६८, ५९५
देसेति	२१९, ५२२, ५२६
देह	३६३, ३९९, ६०३
दोवारिक	३५६
दोस	३३, ४३, ५३
द्वार	५४, ३५६
(ध)	
धंसेति	३५७, ४३४
धज	४२८, ५९४
धनिस्सरिय	४१८
धम्मधर	६१८
धारा	५९५
धावति	३७८

पदानुक्रम	गा. सं.
धिति	५९४
धुर	३५५, ३९२, ३७१, ४१३
धुरि	४६८
धुव	३३१
(ञ)	
ञेय्य	२६, २६९, ४०६, ५०५
ञाण	७३, ४४७
ञातकारी	३५२
ञाति	४०७, ५०५
ञापेति	३८९
(न)	
नख	१०४
नट	३८०
नदी	२१, १९४. ५७४
नन्द	४७३
नन्दन	२४८
नयन	४४८, ६२१
नरक	३२, ४९२, ६१२
नहारु, न्हारु	४६, १०३
नाग	४३६, ५८६
नादित	२४५
नाथ	३०७
नायक	४९१
नावा	३२१
नास	५८, ३१९
नासा	१५३
नासिय	५१०
निक्करुण	५०८
निक्खित्त	३१६
निग्गत	१६५
निग्गमन	१७२
निग्घोस	२४५
निग्रोध	२७०

पदानुक्रम	गा. सं.
निज्जित	३६०
निट्ठ	७२, २८५
नित्थरण	३३४, ६१९
निद्दय	१४३, १५९
निद्दिट्ठ	४५७, ५००
निधि	५२८, ५८८
निन्दित	२५४, ३६१
निप्फल	५०४
निप्फादेति	३१९, ४२६
निब्बत्त	२२६
निब्बत्तेति	४७०
निब्बान	१७, २६, ४१, २६०, ३८६, ४११, ४६७, ४९६, ४८९, ५३६
निब्बापेति	५५२
निब्बिन्दति	६१२
निब्बुति	४८, ४१५, ५१९
निब्बेट्ठेति	१५३
निब्बिज्झति	१५३
निमित्त	२८५, २९७
निम्मल	२५०
निम्मुग्ग	५७३
नियत	२९२, ३०२
निरत्थिक	६८
निरय	७, २८५
निरामिस	४७५, ४७७
निराहार	३८९
निरुज्झति	६०६
निल्लज्ज	३८२
निवारण	३९६
निसेवित	३७३
निसेवन	४०६
निस्सङ्ग	३७१, ३९८, ४११, ४७३, ५१२
निस्सरण	५७९
निस्सार	५१, ६०८, ६१२
निहित	३११
निहीन	८६
नीरज	३७०
नीरुज	४९६
नीचवुत्ति	८८
नीयति	२९२, ३०२
नील	२४६, २७०, ३६०
नीवरण	४५९, ४९३
नुट्ठभित	१२१
नेत्त	३८, ३३०, ३६०, ४४८
नेरयिक	१९३, १९८
(प)	
पकार	९४, ४६६
पक्खन्दति	१३, ३५२, ६०२
पक्खी	२४५
पच्चक्ख	४१६
पच्चङ्ग	८३
पच्चन्तविसय	११
पच्चन्तिम	५
पच्चय	२३२, ४०३, ४१०
पच्चवेक्खति	४१२
पच्चवेक्खण	४१३
पच्चेकबोधि	५८९
पच्छानुताप	२८८
पज्जोत	५९०
पञ्ञा	३४३
पटिक्खत	३४६
पटिगण्हाति	६०७
पटिग्गाह	२६४, २६६, ३१६
पटिग्गाहक	२६८
पटिच्छति	३५४
पटिञ्ञ	५९

पदानुक्रम	गा. सं.	पदानुक्रम	गा. सं.
पटिञ्ञाय	३७६	पदिस्सति	४२७
पटिधावति	१६७	पदीयति	५०२, ५२३
पटिपक्ख	२११, ४५२	पदुम	३५९
पटिपक्खिक	२१६	पदेस	२५२
पटिपज्जति	३०	पदेसञ्ञू	४८७
पटिपत्ति	२२८, २९, ३७, ४०, २१३,	पधान	५९४
	५२६	पपात	२०८, २८२, ३५३
पटिभावेति	२४	पबल	७५
पटिवात	४२५	पब्बत	३५२, ५४५, ५७४
पटिवेध	६५	पभङ्गु	५१, ५५३
पटिसंखाण	३९३	पभङ्गुर	५६२, ६०५
पटिसङ्खाय	३९४	पभा	२५०
पटिसेधन	३९७	पमज्जति	१६, ६२०
पटिसेवेति	३९६, ४०३	पमाणक	४४१
पट्ठान	३२१	पमाद	६००-१
पणिध	३४४	पमिनाति	५३७
पण्डक	७९	पमोद	५२८, ५६३
पण्डर	४३०	पमोदेति	२४८
पण्हि	१४७, १५३	पयत	१००
पतापेति	५७३	पयोग	६०, ६१, ६३, ४००
पतिकार	२०१, ४९८, ६०५	पयोजन	३९५
पत्थितत्थ	३१९	पयोजेति	२६२
पतोद	३६७	पयुज्जति	४००
पत्त	२४५	पर	३६, ४५
पत्ति	२२९, ३७९	परक्कम	२५३
पथ	२४१, ५९५	परक्कमति	१७५
पत्थन	६९	परिनिमित्तवत्ति= परनिमित्तवसवत्ति	४३९
पत्थरति	४२४	परलोक	३१६, ३२७
पत्थेति	६६, ३१९, ५१८	परलोकिक	५३१
पद	४७, ६१६	परलोकिय	३२६
पदित्त	२०८	परामट्ठ	३३२-३
पदीप	२५०	परिक्कपति	३६२, ६०२
पदीपेति	६३, ३३२, ४२८	परिकित्तित	२२४ ६०१

पदानुक्रम	गा. सं.	पदानुक्रम	गा. सं.
परिकुजति	१४५	परिवण्णित	५५७
परिक्खति	४१३, ५५३	परिवार	२३०, ५५५
परिक्खण	४०३	परिसा	२७७
परिक्खा	५३२	परिसावन	५९३
परिक्खित	५९६	परिसिञ्चति	५९५
परिग्गय्ह	५०१	परिसोधित	४१४
परिग्गह	६१, ६४, ३१५, ५९०	परिस्सन्त	९, १०१
परिग्गहित	६४	परिसोसित	९
परिच्चजति	५३९	परिहार	२२७
परिच्चत्त	३७४	परिरुन्धति	२०३
परिचित	४०९	पलम्बति	११०
परिच्छात	१०२	परूळ्ह	१०४
परिणाम	२६५	पल्लङ्क	४७
परितस्सति	४७६	पवत्ति	६०७
परित्त	२५१, २६१	पवदति	११४
परित्तक	४२	पवर	४२१, ४७१
परितज्जित	१४७	पविवेक	४७६
परित्तान	३९६	पसंसक	५६५
परिदीपेति	३०५, ४९१	पसंसन	२१३
परिदूसेति	४०९	पसंसा	२२३, २३१, ५६३
परिनिब्बाति	५८४	पसंसिय	५६३
परिनिन्न	१०३	पसङ्कमति	२७७
परिपीत	५७१	पसाद	४०७, ५१५, ५४३
परिपुच्छक	९०	पसादनीय	५८३
परिपूरेति	३७१	पस्स	१५४
परिभुञ्जति	३९४	पस्सन्न	३८
परिमद्दन	५७८	पहट्ठ	३०८
परिमोहित	२०६	पहातब्ब	४१२
परियत्ति	५३४	पहायी	५००
परियन्तिक	४४०	पहास	२२३
परियुट्ठिक	५८१	पाणि	१४७, २३८
परियेसति	५०६	पातिमोक्ख	३४२, ३५५, ४४९
परिरक्खिय	३४३	पाद	१९९

पदानुक्रम	गा. सं.	पदानुक्रम	गा. सं.
(ओ)		कलह	१३५
		कसा	१४७
ओकास	१५	कसि	३९०
ओघ	४३३, ५८४	कस्सप	३९२, ४७२
ओचित	३८७	काकण	५१४
ओचितता	३५, ३८७	काणकच्छ	४४
ओजोहर	३१३	कानन	५७४
ओतत्त	५७३	कामगुण	२६१
ओत्थट	२४६	कामच्छन्द	४५९
ओदन	११३	कामलोक	२३३, २६१
ओनद्धा	१८२	कामावचरिक	२५४
ओपम	९३	कारुञ्ञ	५०९
ओभास	३२५	कालदण्ड	२८७
ओलोकन	४७९	कायिक	५५
ओसध	५७१	कारुणिक	३३०, ५५७
(क)		कालहत्थी	१९५
कच्छ	१०४	कासु	२०८
कण्टक	१०२, २०१	किकी	६२१
कतञ्ञू	५०९, ५४०, ५४४	कित्ति	२३४
कतञ्ञुता	४९७, ५४४	कित्ति सद्द	२७६
कतवेदी	५०९	किब्बिस	२०४
कन्त	६०८	किब्बिसक	२९०
कपणता	३१५	किमि	६०३
कप्प	२५६, २५७	किमु	१३७
कप्पित	२४७	किलेस	४५५, ६
कम्प	४०१	किलेसेति	३६४
कम	४२५	किस	१०१
कमल	३२५	कुकुच्च	४५९
कम्मकरणा	७	कुक्कुर	९०
कम्मट्ठान	४९३	कुक्कुळ	१९४
कम्मपथ	५६, ५७	कुच्छि	३७३, ३८१
कम्मी	१९६, २९२	कुजति	१६६
करण	५९	कुञ्चित	१०२
करुणा	३३, २८७	कुठित	१३२

पदानुक्रम	गा. सं.	पदानुक्रम	गा. सं.
कुदिट्ठि	८६	गति	३२०
कुम्भ	१९५	गथित	३९४, ४०७-८
कुल	२३४	गन्ध	२४३, २४६, ४२५
कुस	३४९	गन्थ	६१६
कुसीत	३९१	गमन	५५
कुसुम	२४६, ५९५	गम्भीर	५३०
कुहन	३७५	गम्म	२५४
केस	१०३	गरहति	३८२
कोट्ठ	२५७	गुरु	१, ७४
कोटिसिम्बली	१९४	गरु	४९४
कोपीन	१०६	गरुभाव	४२
कोमारभच्च	३५१	गरुक	५२०
कोविद	३५०	गल	३७९
कोस	५४२	गहट्ठ	३७५
(ख)		गहण	१२, ५३२
खण	४, १६, १७, ४५, ४६, ५८४	गामी	२८५, २९७
खत	२८१	गाध	३९४
खत्तिय	४२०	गिलान	२२२, ५५६-७, ५६०
खणति	३९४	गिम्ह	२७५
खन्ति	४७३	गिहि	३७६, ४२६
खमन	२०२	गुणड्ढ	३१२, ५६१
खानु	१३	गुत्ति	३४१
खार	१९४, २८१	गुरु	२२७, ४१७
खित्तचित्त	८८	गूथ	१९४
खिन्न	८०	गूहन	६५
खुज्ज	४५३	गूहयति	१८९
खुद्ददेस	३४८	गोचर	३६५, ३६७, ४६७
खुप्पिपासा	९, १०१, ५०७	गोपित	३९८
खेप	४२	गोविकत्त	३८१
(ग)		घट	३१९, ३२९
गगण	४२८	घटति	४२६, ४५०
गणीयति	४३४	घटबिन्दु,	२०१
गण्डक	१०३	घर	२०

पदानुक्रम	गा. सं.
(च)	
चक्क	६०४
चक्कवत्ति	२३८, ४५३
चञ्चल	३१७, ५७८
चतुग्गुण	२४०
चतुरङ्ग	६४
चतुरङ्गिक	५८
चन्द	४१, ५९०, ५९८
चन्दक	९२
चन्दनिका	१३२
चमरी	६२१
चम्म	१४०
चरति	२४१
चल	४३०, ४९४
चाग	२१४, ३२३
चारी	२४१, ५९९
चारु	४२८, ५१२
चावन	६१
चित्त	५८, ६४
	२४१, २६४
चिन्ता	१६५, २१६
चिन्तेति	२८९
चीवर	३९३, ३९६
चेतना	५३, ५७, ७२, २११, २२६
चेतिय	४२८, ४३०
चेल	५९९
चोदित	५०९
चोर	३१३, ३५७, ३८२
चोल	३९६
(छ)	
छड्डेति	२५७
छत्त	४४३
छवि	३६३
छादन	३९६
छाया	१२३, ४४३
छेद	३४९
(ज)	
जच्च	४१६
जळ	१२, ८६, ९०
जन्तु	६७, २८५, २९७
जम्बुदीप	३९१
जम्बुदीपक	२३
जरा	२७८
जर	२८८
जल	२४६, ४०१
जव	२७८
जाल	५०, ३१४
जाला	५०
जिघच्छा	११८, ३८८
जिगुच्छिय	३३२. ४०८
जिण्ण	५६५
जिण्णक	२९९
जिन	३७२
जेगुच्छ	६०३
जेतवन	५१२
झान	२३५, ४२२, ४५७, ४६२-३
झायी	२५५
(ड, ठ)	
डहति	४८८
ठिति	५३७
(त)	
तग्गत=तदगत	४६४
तच	४६, १०२, १०३
तण्हा	३९५, ४०९
तनु	३६३
तम्ब	२८६

पदानुक्रम	गा. सं.	पदानुक्रम	गा. सं.
ताळित	८०	दाठी	२८६
ताळेति	१५१	दान	२०, ३५, २११-३, २२८, २६४
तरुण	१६९	दान पति	२७५, ३०३
ताण	२२४, २८९	दायक	२७६
तिण	५७३	दायी	२१४
तिदस	४११, ४२०, ४७८	दायिक	२११, २२९
तिण्ह	३८१	दार	५५, ६४, ७९, ५१७
तिरच्छान	८	दारक	५१७
तिरिय	९६	दारुण	५, ७, ७८, २८६
तिलोक	२९, २७६, ४९१	दासब्यता	४९८
तुज्जति	२७९	दाह	२०१
तुच्छ	४३१	दिट्ठधम्म	२७२, ४७०-१
तेविज्ज	४२०	दिट्ठि	१३, ३३३
तोसेति	३०४	दिन	२३९
(थ)		दिब्ब	२३९
थद्ध	९०	दिब्ब चक्खु	४८२
थन	३६०	दिसंगम	४४३
थिर	३२१	दीघायुक	५११
थीन	४५९	दीन	१८८, ३२४-५
थूल	१०१, ३४६	दीनत्त	७८
थेय्य	५५, ६१	दीप	३१५, ६०६
(द)		दीपेति	४९, ३४९
द	१, २६, ७२	दुक्कर	१८
दळिद्द	८९, ५२८	दुक्करत्त	२०, २४, २९, ३६
दळिद्दिय	७८	दुक्ख	३०, ३४
दण्ड	२८६, ३९९	दुक्खम	२०१
दन्त	३६०	दुग्गति	२०८, ३२१
दस्सन	४०२, ४२८, ४६६, ५१२	दुग्गन्ध	८०, ६०३
दस्सनीयतर	३२५	दुट्ठ	८६, ४३४
दस्सावी	५५८	दुद्दम	३६७
दस्सी	४०९, ५३६, ६१४	दुन्नीत	३६६
दहन	२०	दुप्पेय्य	१५८
दाठा	२८६	दुब्बच्च	९५., १९७

पदानुक्रम	गा. सं.	पदानुक्रम	गा. सं.
दुमिन्द	४३२	धिति	५९४
दुरक्ख	३९८	धुर	३५५, ३९२, ३७१, ४१३
दुरतिक्कम	९५	धुरि	४६८
दुरतिक्कमन	२९३	धुव	३३१
दुब्बल	२६२	**(ञ)**	
दुम्मति	२९२	ञेय्य	२६, २६९, ४०६, ५०५
दुरन्त	९५, २९३	ञाण	७३, ४४७
दुरासद	३८४	ञातकारी	३५२
दुरुक्खेप	३४७	ञाति	४०७, ५०५
दुल्लभ	१७, २७	ञापेति	३८९
दुल्लभत्त	४०, ४६	**(न)**	
दुस्सह	९५, ११८, १९६	नख	१०४
दुस्सील	३३८	नट	३८०
दूत	२८७	नदी	२१, १९४. ५७४
दूसन	४५३	नन्द	४७३
दूसेति	३६१, ३७९, ३८४	नन्दन	२४८
देड्डुभ	२९२	नयन	४४८, ६२१
देय्यधम्म	३३१	नरक	३२, ४९२, ६१२
देव लोक	२४०, २५२	नहारु, न्हारु	४६, १०३
देसक	२१७, २१९, ५१९, ५२२, ५२६	नाग	४३६, ५८६
देसना	२१३, २१९, ५२४, ५६८, ५९५	नादित	२४५
देसेति	२१९, ५२२, ५२६	नाथ	३०७
देह	३६३, ३९९, ६०३	नायक	४९१
दोवारिक	३५६	नावा	३२१
दोस	३३, ४३, ५३	नास	५८, ३१९
द्वार	५४, ३५६	नासा	१५३
(ध)		नासिय	५१०
धंसेति	३५७, ४३४	निक्करुण	५०८
धज	४२८, ५९४	निक्खित्त	३१६
धनिस्सरिय	४१८	निग्गत	१६५
धम्मधर	६१८	निग्गमन	१७२
धारा	५९५	निग्घोस	२४५
धावति	३७८	निग्रोघ	२७०

पदानुक्रम	गा. सं.
निज्जित	३६०
निट्ठ	७२, २८५
नित्थरण	३३४, ६१९
निद्दय	१४३, १५९
निद्दिट्ठ	४५७, ५००
निधि	५२८, ५८८
निन्दित	२५४, ३६१
निप्फल	५०४
निप्फादेति	३१९, ४२६
निब्बत्त	२२६
निब्बत्तेति	४७०
निब्बान	१७, २६, ४१, २६०, ३८६, ४११, ४६७, ४९६, ४८९, ५३६
निब्बापेति	५५२
निब्बिन्दति	६१२
निब्बुति	४८, ४१५, ५१९
निब्बेट्ठेति	१५३
निब्बिज्झति	१५३
निमित्ता	२८५, २९७
निम्मल	२५०
निम्मुग्ग	५७३
नियत	२९२, ३०२
निरत्थिक	६८
निरय	७, २८५
निरामिस	४७५, ४७७
निराहार	३८९
निरुज्झति	६०६
निल्लज्ज	३८२
निवारण	३९६
निसेवित	३७३
निसेवन	४०६
निस्सङ्ग	३७१, ३९८, ४११, ४७३, ५१२
निस्सरण	५७९
निस्सार	५१, ६०८, ६१२
निहित	३११
निहीन	८६
नीरज	३७०
नीरुज	४९६
नीचवुत्ति	८८
नीयति	२९२, ३०२
नील	२४६, २७०, ३६०
नीवरण	४५९, ४९३
नुट्ठभित	१२१
नेत्त	३८, ३३०, ३६०, ४४८
नेरयिक	१९३, १९८
(प)	
पकार	९४, ४६६
पक्खन्दति	१३, ३५२, ६०२
पक्खी	२४५
पच्चक्ख	४१६
पच्चङ्ग	८३
पच्चन्तविसय	११
पच्चन्तिम	५
पच्चय	२३२, ४०३, ४१०
पच्चवेक्खति	४१२
पच्चवेक्खण	४१३
पच्चेकबोधि	५८९
पच्छानुताप	२८८
पज्जोत	५९०
पञ्ञा	३४३
पटिक्खत	३४६
पटिगण्हाति	६०७
पटिग्गाह	२६४, २६६, ३१६
पटिग्गाहक	२६८
पटिच्छति	३५४
पटिञ्ञा	५९

पदानुक्रम	गा. सं.	पदानुक्रम	गा. सं.
पटिञ्ञाय	३७६	पदिस्सति	४२७
पटिधावति	१६७	पदीयति	५०२, ५२३
पटिपक्ख	२११, ४५२	पदुम	३५९
पटिपक्खिक	२१६	पदेस	२५२
पटिपज्जति	३०	पदेसञ्ञू	४८७
पटिपत्ति	२२८, २९, ३७, ४०, २१३,	पधान	५९४
	५२६	पपात	२०८, २८२, ३५३
पटिभावेति	२४	पबल	७५
पटिवात	४२५	पब्बत	३५२, ५४५, ५७४
पटिवेध	६५	पभङ्गु	५१, ५५३
पटिसंखाण	३९३	पभङ्गुर	५६२, ६०५
पटिसङ्खाय	३९४	पभा	२५०
पटिसेधन	३९७	पमज्जति	१६, ६२०
पटिसेवेति	३९६, ४०३	पमाणक	४४१
पट्ठान	३२१	पमाद	६००-१
पणिध	३४४	पमिनाति	५३७
पण्डक	७९	पमोद	५२८, ५६३
पण्डर	४३०	पमोदेति	२४८
पण्हि	१४७, १५३	पयत	१००
पतापेति	५७३	पयोग	६०, ६१, ६३, ४००
पतिकार	२०१, ४९८, ६०५	पयोजन	३९५
पत्थितत्थ	३१९	पयोजेति	२६२
पतोद	३६७	पयुज्जति	४००
पत्त	२४५	पर	३६, ४५
पत्ति	२२९, ३७९	परक्कम	२५३
पथ	२४१, ५९५	परक्कमति	१७५
पत्थन	६९	परिंनिमित्तवत्ति= परनिमित्तवसवत्ति	४३९
पत्थरति	४२४	परलोक	३१६, ३२७
पत्थेति	६६, ३१९, ५१८	परलोकिक	५३१
पद	४७, ६१६	परलोकिय	३२६
पदित्त	२०८	परामट्ठ	३३२-३
पदीप	२५०	परिक्कपति	३६२, ६०२
पदीपेति	६३, ३३२, ४२८	परिकित्तित	२२४ ६०१

पदानुक्रम	गा. सं.	पदानुक्रम	गा. सं.
परिकुजति	१४५	परिवण्णित	५५७
परिक्खति	४१३, ५५३	परिवार	२३०, ५५५
परिक्खण	४०३	परिसा	२७७
परिक्खा	५३२	परिसावन	५९३
परिक्खित	५९६	परिसिञ्चति	५९५
परिग्गय्ह	५०१	परिसोधित	४१४
परिग्गह	६१, ६४, ३१५, ५९०	परिस्सन्त	९, १०१
परिग्गहित	६४	परिसोसित	९
परिच्चजति	५३९	परिहार	२२७
परिच्चत्त	३७४	परिरुन्धति	२०३
परिचित	४०९	पलम्बति	११०
परिच्छात	१०२	परूळ्ह	१०४
परिणाम	२६५	पल्लङ्क	४७
परितस्सति	४७६	पवत्ति	६०७
परित्त	२५१, २६१	पवदति	११४
परित्तक	४२	पवर	४२१, ४७१
परितज्जित	१४७	पविवेक	४७६
परित्तान	३९६	पसंसक	५६५
परिदीपेति	३०५, ४९१	पसंसन	२१३
परिदूसेति	४०९	पसंसा	२२३, २३१, ५६३
परिनिब्बाति	५८४	पसंसिय	५६३
परिनिन्न	१०३	पसङ्कमति	२७७
परिपीत	५७१	पसाद	४०७, ५१५, ५४३
परिपुच्छक	९०	पसादनीय	५८३
परिपूरेति	३७१	पस्स	१५४
परिभुञ्जति	३९४	पस्सन्न	३८
परिमद्दन	५७८	पहट्ठ	३०८
परिमोहित	२०६	पहातब्ब	४१२
परियत्ति	५३४	पहायी	५००
परियन्तिक	४४०	पहास	२२३
परियुट्ठिक	५८१	पाणि	१४७, २३८
परियेसति	५०६	पातिमोक्ख	३४२, ३५५, ४४९
परिरक्खिय	३४३	पाद	१९९

पदानुक्रम	गा. सं.	पदानुक्रम	गा. सं.
पादप	२७०	पुञ्ज	२३, २८६
पाप	२१. ५२	पुण्ण	४७३
पामुज्ज	१६७	पूति	२५८
पारत्थिक	२७३	पुथुज्जन	३६३
पारमी	३२८	पुब्बक	२१४
पाल	२८५	पुब्बङ्गम	५४७
पालेति	३३	पुत्त	३०
पारिसुद्धि	३४२	पुप्फ	५५०-१
पावक	६०८	पुर	४६८, ४९६ ५४५
पास	३१४, ३६२. ६०९	पुञ्ञ	४, १९, २०, २१, २४
पासाद	२९९	पुञ्ञकम्म	५२
पासादिका	५४३	पेत	९७, ९८, १००, ४९९, ५०३
पासंसिय	२३१	पेत लोक	९६
पासान	२३८	पेत्तिविसय	९
पिट्ठिकण्टक	१०२	पेसल	६२१
पिण्ड	३५९, ३९०. ३९८, ५२९	पेसुञ्ञ	५५, ६६, ८१
पिण्ड पात	३९३	पेसेति	३६९
पिदहति	३२१	पोत्थक	३६३, ३८३
पिपीलिक	२३	**(फ)**	
पिपासा	२८८	फन्दति	२९१
पिपासित	१५१	फरति	४७६
पिलन्धन	२४३	फरुस	५५, ६७
पियत्त	६६	फल	२२. २४, २६, ७५
पिल्लक	१६४	फलत्त	३३०
पिसाच	३१३	फलत्तन	२४४
पिलेति	३३	फलति	२४२, २७२, ४२३
पीति	२४, ४६१	फाति	५४४
पीतिभक्ख	२५५	फासुल	१०१
पुच्छ	१६८	फुल्ल	३२५, ३६०
पूजनीय	२३०, ५५१	फुसति	१२४, ५१९
पूजा	२१३, २३०, ५४२, ५५१	फेनिल	१३२
पूजेति	५४८	**(ब)**	
पूजिय	५४२	बन्धु	७४, २८१

पदानुक्रम	गा. सं.	पदानुक्रम	गा. सं.
बल	२३४	(भ)	
बलवन्तरी	४५२	भक्ख	२५५, ३८८
बालक	३५१	भजति	२७५
बालि	३५९	भङ्ग	४८, ७८
बालिस	६१०	भङ्गुर	६१२
बव्हाबाध	८९	भञ्जक	५७०
बव्हाबाधत्तन	७७	भण्ड	६१
बाहिर	३७६	भत्त	११८
बिन्दु	१२४, २०१	भद्द	३१९, ३२९
बिल	२३	भद्दा	३७२
बीज	२४, २७०, २७३, ३१८	भयानक	७, २०८
बीभच्च	६०३	भव	३३, ३३३, ३३५
ब्यग्घ	३८८	भाग	२५६
बहुल	११, ७९	भागी	४११, ४७५
बाहुल्य	७७	भाजन	५७१
बुध	५०, ४४९, ४९२	भायितब्बक	९५
बुद्ध	१४, १७, १५९-२	भार	३१.४९४
बुद्ध पुत्त	४६	भावना	१५, २१३, २१६, २२८,
बुद्धंसोम	३, ६१६		२३३, ४५१, ४५४
बुद्धि	२६३	भावेति	४८
बुब्बुल	२६२	भासन	६८
बोज्झङ्ग	५९५	भिक्ख	३९०
बोधिपक्खियधम्म	४९५	भिक्खु	४२९
बोधिसत्त	३३४	भिंकार	५१३
ब्रह्मा	२५५, ४२२, ४३६	भिन्दति	४७
ब्रह्मलोक	२५६, २६०, ४२४, ४८५	भीम	१९६, ३१५
ब्यथति	२८७	भीरु	२०७, ३००, ६१६
ब्यसन	२८९, ३६२, ५०८	भुम्म	४२०
ब्यापज्झ	३३८, ३९७	भूमी	२२
ब्यापन्न	७०	–फलभूमी	२२
ब्यापाद	७०, ८५, ४५९	भेद	६६, ४५७, ४६३
ब्रह्मिन्द	४१	भेरि	४२९

पदानुक्रम	गा. सं.	पदानुक्रम	गा. सं.
भेसज्ज	३९३, ३९७	मन्दता	१९
भोग	८६, २२८, २६४-५, ३३३	मयूर	९२
भोगवा	५११	मरण	२९२, २९३
भोजन	५२, ३८८, ४०७-८	मरीयति	१३९
(म)		मल	२२०
मंस	३३०, ३९८	महग्घ	१८
मकस	५०	महग्घता	२६
मक्खिका	३९६, ५२९	महायन्त	१९५
मग्ग	४८, २३३	मही	४२४, ४७२
मङ्गल	५५१	महिता	२७६
मच्छ	६१०	महेसक्ख	५११
मच्छरी	८९, ९७	महेसि	२१५, ४३९
मच्छेर	३१३, ५१०	मान	५००, ५३९
मच्चु	२९५, ३०४	मानस	२७९, २८४
मज्ज	२६७	मानी	३८९, ४१७
–पायी	८८	मार	३१८, ४४९, ६०९
–पान	८७	मारण	२९५, ५६९
मज्झिम	२६०	मास	२३९
मत	५५	मिगिन्द	५९३
मण्डित	२४४, ५४०	मिच्छा-जीव	२१५, ३७३, ३७६
मण्डुक	२९२	–दिट्ठि	५६, ७१, ८६
मत्तक	२३८	मित	१९६
मद्दन	४४९	मिद्ध	४५९
मद्दी	२१८	मिनाति	५८५
मधुर	५३०	मिलात	१६१
मनुञ्ञागिन्द	२४५	मुख	८०, ३०४
मनुस्सत्त	१७, १८, १९, २७	मुच्चति	४०२
मनो	३६९	मुच्छा	२८८
–मय	२५९	मुच्छित	४०८
–रथ	३४	मुण्डिय	५१, ३७४
मन्त	४८१	मूग	१२
मन्तानिपुत्त	४७५	मूल	५१, ३१६
मन्द	४३, ८६, २५८, ४५१	मूळ्ह	३०२-३

पदानुक्रम	गा. सं.	पदानुक्रम	गा. सं.
मुति	२२१	योज्ज	५६८
मुत्ता	२२४, ३६०	**(र)**	
मुत्ति	४९२	रंसि	१२४
मुदा	३०६, ३०८	रक्खण	४४३
मुद्धा	२६२, ३५४	रक्खस	१८९, ३१३, ३६६
मुनि	२५५, २७४, ५५९	रक्खिय	३४७
मुनिन्द	११, ३४९	रचन	६१९
मुय्हति	२८२, ६०५	रचेति	१, ६१९
मुसा-रत	८०	रज्ज	२३४
–वाद	६५	रज्जति	६१३
मेघ	४२९	रज्जु	१४८, १५३
मेत्ता	४८४, ४८७	रट्ठड्ढ	५९४
मेरु	३४७, ४४७, ५९४	रट्ठपाल	४७३
मोक्ख	२२८, २६५	रण	२३१, ५७८
मोग्गल्लान	४७२	रणञ्जय	४९३, ५३९
मोदक	२६३, ५१०	रतन	१८, २४१, ५७२
मोदन	२२९	रमति	२४९
मोह	१४, ५३	रम्म	२४८, ५१२
(य)		रस	३९५, ४०९
यथक्कमं	२६९	रहित	८, १२
यथाबलं	९७	राग	६८, २११
यथासत्ति	९७	राजी	५९३
यमदूत	२८७	रित्तक	२५१
यसो	३०६, ५१८	रित्तहत्थ	३०९
यस्ससी	४२०	रुक्ख	२४२, २७५
याचक	३२४, ३३१	रुदित	२८१
यान	२९७	रूप	२२८, ४९४
युग	४६८	रूपारूपिक	२३६
युत्त	२४४	रूपारूपभव	२३६
युत्ति	३४०, ५०५, ६१७	रुहिर	३८
योग	४५४	रोगी	८६
योगी	४६८	रोधन	५७
योजेति	११०, ३५९	रोपेति	३४, ३१८

पदानुक्रम	गा. सं.	पदानुक्रम	गा. सं.
रोमकूप	११९	वणिज्ज	३३२, ३९०, ३९५
(ल)		वणित	३९५
लक्खिय	१०५	वण्णन	२२३, ४८६
लज्ज	३८७	वत्थ	२१७
लज्जित	३५	वत्थु	५४, २६४
लता	२४५, ४०१	वधक	५८
लद्धि	६५	वद्धन	२४७, ३०७
लव	१०६	वन	३५७
लवण	१५८	वन्त	३७९, ४०८
लापु	१०२	वन्दना	२२१, ५४०
लाभ	२६८	वराह	३७८
लाभी	४२७	वाल	१३९
लामक	२८, २५३, ४२६	वलि	१०४
लालन	३८७	वल्लित	१०२
लालति	१६८	वसनुग	२४९
लीयन	१९०	वसति	३९८
लुद्ध	२८६	वसवत्तिक	४८३
लेप	३९५	वस्स	५९५
लोक	१, १९, ३१	वाचा	५५
–इस्सर	३४८	वाचिक	५५
लोभ	५३, २६६	वात	३९६, ४०१
लोम्	१०४	वादी	२१८, ४५५
लोहकुम्भ	१९५	वारेति	१००, ३६४
(व)		वालधि	६२१
वंस	४७४	वालुक	२४४
वङ्क	२८६	वाहक	३१
वग्गु	२४५	विकप्पिय	३५८
वच्छर	२३९	विक्खण्डित	४३६
वञ्चित	३०४, ३१९, ३३१, ३८७	विक्खण्डिय	४५०
वज्जेति	१०, ११, २००	विक्खम्भन	४५५
वड्ढन	३६१	विक्खम्भेति	४५६
वड्ढि	३१६	विक्खेप	२२०, ४६०
वण	३९५-६	विगच्छति	५२३

पदानुक्रम	गा. सं.	पदानुक्रम	गा. सं.
विगम	३८८, ५०३	विद्धा	२०, २८९
विघाटित	३१४	विनय	३४४, ३५०
विघास	३८९	विनायक	३४४, ५६१
विचक्खण	२००, ३९३	विनासेति	५९, ३१४, ५४६
विचय	४६६	विनिग्गत	२३
विचरति	१३३	विनिच्छित	५०८
विचार	४६१	विनिज्जित	३१८
विचालिय	४४४	विनिमीलेति	१८९
विचिकिच्छा	४५९	विनिमुत्त	१, ४, १६, २२५
विचित्त	९२, २४५	विनीवरण	४५८
विचिन्तिय	१९३, २७३	विन्दु	२०१
विचेतन	१९०	विपक्ख	२४७
विचिनाति	३४४	विपक्खिक	७१
विच्छड्डुन	१३६	विपरियय	१२४, ३३३
विच्छद्दित	१२१	विपरियेसति	६०२
विच्छिन्न	३४, ११७, ३७०, ५८५	विपस्सना	४५७, ४६६
विञ्ञू	४५	विपाक	१२, ७३, १९७, २३५
विजात	१२१	विपुल	२७१
विजायति	१३३	विफल	५२७
विजानाति	४४, २४०, २७२, ६०९	विफालित	१८८
विज्जु	२४४, ५९८	विभावी	३८२
विञ्ञेय्य	९१, २११, २५८, ३०५, ३४०	विभावेति	४१, ३३०, ५६४
विञ्ञाता	३६	विभासित	५९१
विञ्ञात	४२९	विमान	२४१, २९७
विञ्ञाण	४६४, ६०८	विमंसति	९१
वितक्क	४६१	विमुच्चति	६१३
वितरण	५६९	विमुत्ति	६१४
वित्थिण्ण	३९१, ६१७	विमोक्ख	३४, २६४
विदय्हति	१६०	विमोहित	३६३
विदारित	३८१	वियोग	७७, १६४
विद्देसनीय	८२	विरज्जति	६१३
विधा	२६२	विरण	५७९
विधि	३३६	विरत	३३८

पदानुक्रम	गा. सं.
विरति	२१५, ३४१
विरत्त	६१३
विरल	१०१
विरवति	१७९, १८८, २९१
विरिय	३४३, ५१७
विरियवा	४७५
विरूप	८५
विरोधेति	४५. ४९६
विलङ्घति	१६८
विलीयति	३८३
विलीयन	२०१
विवज्जेति	२१०, ३५३, ३९५, ३९९
विवट्ट	४८५
विवस	२९१
विवेक	४७१
विसङ्क	१७६
विसङ्कित	१२८
विसञ्ञी	११७
विसाद	११७
विसारद	२७७
विसिट्ठ	२६०, २६४, २६९, ३३२, ४८९, ५४२
विसिट्ठक	३३४
विसुद्ध	२६९, ३८३
विसुद्धि	४४७
विसेसता	२६५
विसोधेति	३२१
विसज्जेति	५१२
विस्सत्थ	१६८, ५९३
विस्सार	१८८
विस्सासनीय	३०६, ४११
विहङ्ग	२४१
विहत	३१३, ४२५
विहार	४२८ ४३१, ५१२
विहिंस	५१०
विहीन	५७९
विहेठक	८९
वुद्धि	५३७
वेकल्ल	५, १७
वेग	२९५
वेज्ज	२७९, ३५१
वेठित	३६२
वेदना	३६८
वेदिय	२०, ५६
वेधमान	१९०
वेय्यावच्च	२१३, २२२, २३०, ५५५-६
वेर	३१०, ३३९
वेलामदान	४४६, ४९०
वेस	३८४
वेसारज्ज	५९३
वोक्कमति	६१७
वोहरीयति	२१२
व्यथति	१०९, २८७
व्यसन	४९९
व्याकुल	१०३
व्यापाद	५६, ५१०
(स)	
संयुत्त	२११
संरक्खति	३६४
संवच्छर	२३९
संवट्ट	४८४-५
संवर	३७२
संवास	३०७, ४३५
संविज्जति	५७९
संविभाग	९७
संसरति	५७७

पदानुक्रम	गा. सं.	पदानुक्रम	गा. सं.
संसार	१३, ४९२, ५०५, ५७०	सतरंसि	५९०
–सागर	३१५	सति	३४३, ३६५, ३६८, ३६९, ३७०
संसिज्झति	४५१	सतिपट्ठान	५९४
संसित	३०६	सत्तु	३१४
संहत	३८८	सत्था	३५०, ३५३
संहरति	२५३	सद्दा	४२४
सक्कार	२२१, ५१८	सद्दहति	५६६
सङ्कप्प	३५८	सद्दित	१००
सङ्कम	३५	सद्धा	३४३, ३५५, ३७२
सङ्कुल	६०३	सद्धाता	३९
सङ्खार	४८९, ६१३	सन्तत्त	५२९
सङ्खोभ	४७१	सन्ताप	९, ५७२
सगारव	५८७, ६१५	सन्तमानसता	२६८
सग्ग	२७, २३७, २३८, २९७	सन्थुत	३१
सङ्ग	३६२, ३६४, ४९४	सन्दिट्ठिक	२७३-४, ३०३, ३०५, ३२७
सङ्गह	३२८	सन्देह	५०३
सङ्घ	४४६, ५१३	सन्धि	२७९
सङ्घात	१९५	सपत्त	७९
सङ्घुट्ठ	२९८	सब्रह्मचारी	१, ४३५, ४७४
सच्च	१५	सब्बञ्ञू	५१३
सज्जति	५१	समक्खात	७०, ४५८
सज्जनीय	३६५	समण	३६८
सञ्चार	२४४	–धम्म	३७६
सञ्चित	३१९	समथ	४५७ ४६०, ४६५, ४६८
सञ्छन्न	२४४	समत्थ	३७, २८९
सञ्जनेति	५६४	समत्थता	१०९
सञ्ञा	४८, ५८	समत्थिय	६१९
सञ्ञित	५३१, ४६१-२	समनुयुञ्जति	५९९
सलिळ	१६८	समपेक्खिय	५३६
सण्ठान	१०१	समय	६, २८४
सण्ठापेति	३८०	समवाय	६०८
सण्ठित	४५८	समागत	१६७
सण्ठिति	५६०	समादहति	४०१

पदानुक्रम	गा. सं.	पदानुक्रम	गा. सं.
समाधि	४०३, ४६०, ४७०	सम्फ	५५, ६८
समानभाव	३८	–प्पलाप	८३
समानीत	५३५	सम्फस्स	२४३
समापत्ति	४६५	सम्भव	५७, २२८
समायोग	४५, ४६९	सम्बद्ध, सम्बन्धङ्ग	८१. ८३
समाहित	४०२, ६१३	सम्बुद्ध	४७, २५४
समिज्झति	४८१., ५९८	सम्भव	१७१, ३०५
समिद्धिक	४२१	सम्भावन	२२४
सामि	३४७	सम्भावेति	४७४
समुग्गाह	३६०	सम्भोग	४३५
समुच्छिन्न	३१४	सम्मत	१५, २५
समुच्छेद	४५५	सम्मा-जीव	३७३, ३७६
समुत्थट	१४४	सम्मा दिट्ठि	७१
समुट्ठित	११९	सम्मान	३५५
समुद्धट	१४३	सम्मुळ्ह	२९२
समुपट्ठाति	२८३	सावज्जात	५१९
समुपागत	३२४	सयन	३९३
समोधाय	५८८	सयनीघर	१३५
सम्पटिच्छन	५९, ६२	सयंभू	५५८
सम्पत्त	५६	सवण, सवन	१०, २१३, २२९,
सम्पदा	२१०, २३०-१, २६६, ३१९,		५२९, ५३२
	३२३	सर	८२, २४९, ४२९
सम्पत्ति	१६, २७, ५७, २३५, ३१५,	सरण	३१, २२४, २३१
	३१८, ४७०	सरीर	२६२, २६८, ४०१, ४०३
सम्पदित्त	३३	सलाक	११५
सम्पदुट्ठ	७०	सल्ल	२८९
सम्पफुल्ल	२४५	सस	२७६
सम्पमोदित	३०१	सहव्यता	९०
सम्परिवज्जेति	५२, २०८	सहाय	३१२, ३५५
सम्परिवत्तति	६०४	सहित	६२०
सम्पहंसन	५६८	साखा	२७०
सम्पहट्ठ	३०१	सागर	२८९
सम्पुण्ण	२२	साधक	१६, ४१, २२८, २६२, ५९९

पदानुक्रम	गा. सं.	पदानुक्रम	गा. सं.
साधकता	३२९	–भाव	३२
साधारण	३१०, ३२६	सीतल	३२, ५७३
साधारणक	३१०	सीतलीभाव	३३
साधिक	१९	सीदापेति	४३
साधितब्बक	२१	सिनान	४४३
साधियं	२५८, ४५४, ४६९	सील	२१३, ३४२
साधेति	८४, ४०५, ४८१, ५५८, ६०८	सीस	५९९
साधुक	२२०	सीह	२७४
सानु	५९२	सुकरत्तन	२०
सामिद्धिकर	४४२	सुख	३०, २३५
सार	१८, २५, ३६, ३१७, ५५४, ६१४	सुगति	४३, ४४४
सारिपुत्त	४७२, ५०३	सुचि	८६
सारेति	३६७	सुत	११, ९१
सावक	३६४, ३६९	सूतिघरे	१३५
सावन	६७	सुत्तन्त	३३०
सासन	६१४	सुत्ति	३४०, ६१७
सासप	२७०, ४४७	सुद्धि	३९२, ४४९
सासपि	२५७	सुनापरन्त	४७३
सिक्खा	४४४	सुनेत्त	४८४
सिङ्ग	१३९	सुरिय	६०८
सित्त	२८१	सुवण्णमणि	२४६
सित्थ	३८३	सुवा	३७९, ४०८
सिद्धि	१४, १७, ३२५, ४६९	सुसान	१३६
सिनेरु	२६२	सूल	२७९
सिनेह	३७२	सेनापति	२७४
सिप्पि	२४७	सेय्या	२७८
सिम्बलि	१९४	सेल	५९२
सिरी	३८४, ४३१, ५१३	सेवति	३९३, ३९७
सिरिमा	५१३	सेवन	८७
सिरो	१०१	सेवी	५६७
सिरोरुह	२८६	सोक	२८१, २८९
सिसिर	१२४	सोचिय	२६२
सीति	५३१	सोचनीय	५१६

पदानुक्रम	गा. सं.	पदानुक्रम	गा. सं.
सोणत्थेर	४७५	हरि	३५९
सोण्ण	३६०, ५१३	हरि डाठी	२८६
सोत	४८२	हार	४३०
सोपान	२४६, ३१७	हास	५६४
सोवण्ण	११६	हिम	४३०
सोत्थि	११६	हिंसा	५५, ५७
स्नेह	३९७, ४०६	हिक्का	२७९
स्वाक्खात	५७०	हित	२१९
(ह)		हिमवा	१९३
हंस	४३०	हिमवन्त	२३८
हदय	१९६, ३७२	हेड्डिम	२३८, २४०, २५६